अंतरंग-प्रचार के लिए

प्रारूप

भारतीय राज्य-व्यवस्था

की

पुनर्रचना का एक

सुझाव

जयप्रकाश नारायण

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

रा ज घा ट, का शी

"...प्रत्यक्ष प्रदर्शन द्वारा लोकतंत्र के सच्चे विज्ञान के उद्विकासन का श्रेय भारत के लिए ही सुरक्षित रहे।"

—महात्मा गांधी

प्राक्कथन

प्रायः दो वर्ष पूर्व—मैसूर के ग्रामदान-सम्मेलन के कुछ ही समय बाद—परोक्ष निर्वाचन के प्रश्न पर कतिपय विशिष्ट राजनीति-वेत्ताओं के साथ विचार-विमर्श का मुझे सुयोग प्राप्त हुआ था। उस समय मेरे विचारो का जैसा स्वागत हुआ, उससे प्रोत्साहित होकर मैंने उन्हें लिपिबद्ध करने का निश्चय किया।

किन्तु हमारे देश मे सार्वजनिक सेवा-कार्यो का क्रम इतना अव्यवस्थित ढंग से चलता है कि उसके चलते बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। इस दोष के साथ ही मेरा अपना ढंग भी इतना अव्यवस्थित रहता है कि मै इसके पहले अपने विचार लिख डालने के लिए समय न निकाल पाया।

आगे के पृष्ठों मे जो विचार अंकित किये जा रहे है, वे सुझावात्मक ही है, जिन्हें आधार मानकर भलीभाँति विचार किया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय पर गाधीजी द्वारा व्यक्त विचारों का मुझ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किन्तु मै यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि जो विचार मै प्रकट कर रहा हूँ, वे सिद्धान्त-विशेष अथवा विचारधारा-विशेष से बँधे नहीं है।

पहली बात, जिस पर मै जोर देना चाहता हूँ, वह यह है कि जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है, उसे वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली की अपेक्षा किसी उन्नत प्रणाली तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। हमारे सामने उपस्थित विषय इससे कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है—वह यह कि आज के जमाने में हमारे लिए सर्वोपयुक्त राज्य-पद्धति अथवा राज्य-शासन-व्यवस्था का स्वरूप क्या हो। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि राज्य-शासन-व्यवस्था का स्वरूप चाहे जैसा भी हो, वह शून्य में नहीं स्थापित की जा सकती। उसका उद्दश्य समाज का व्यापक हित-साधन है, अतः उसे तदनुरूप ही होना चाहिए।

मैं यहाँ जो सुझाव प्रस्तुत कर रहा हूँ, उसमें उस राज्य-शासन-व्यवस्था की रूपरेखा उपस्थित की जायगी, जो मेरे मत से हमारे देश के लिए सर्वथा उपयुक्त तो है ही, साथ ही अत्यन्त तर्कसम्मत और विवेकसम्मत भी है। अपने मत के समर्थन में मैं कुछ कारण भी उपस्थित करूँगा।

मैने इस बात पर जोर दिया है कि हमारी वर्तमान राज्यपद्धति का आधार प्राचीन भारतीय राज्य-शासन-व्यवस्था होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि (१) मेरे विचार से सामाजिक व्यवस्था के प्रकृत विकास के वह अनुरूप है तथा (२) वे सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा समाज-विज्ञान की दृष्टि से अधिक पुष्ट हैं।

पश्चिम की वर्तमान राज्यव्यवस्था का आधार विकीर्ण मानव-समाज है, जिसमें राज्य का निर्माण वैयक्तिक ढाँचे पर हुआ है। किन्तु यह आधार गलत है, क्योंकि इसमें मनुष्य की सामाजिकता और समाज के वैज्ञानिक

संघटन दोनों की उपेक्षा है। प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था में इन दोनों बातों का ध्यान रखा गया है।

मै यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस प्रबन्ध में मै केवल लोकतन्त्र या सरकार पर विचार व्यक्त करने नही जा रहा हूँ। मै यहाँ इस तात्कालिक और व्यावहारिक प्रश्न की मीमांसा करना चाहता हूँ कि इस समय भारत की राज्य-व्यवस्था का आधार और स्वरूप क्या हो।

मैंने इस प्रश्न पर किसी पूर्वनिश्चित धारणा की दृष्टि से विचार नहीं किया है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा है कि जो विचार मैं यहाँ व्यक्त कर रहा हूँ, उनको किसी 'वाद' की संज्ञा न दी जाय। समुदाय-वादी (Communitarian) अभिधान का भी प्रयोग अनिच्छापूर्वक ही करना पड़ा है। कभी-कभी ऐसे व्याख्यात्मक शब्द अनिवार्य हो जाते हैं। वस्तुतः मेरा सारा ध्यान ऐसे सामाजिक, विशेषकर राजनीतिक स्वरूप के शोध की ओर केन्द्रित रहा है, जिससे मानव-मूल्यों की रक्षा हो सके। कम-से-कम इस प्रश्न पर आज संसार में कही भी दो मत नही हैं। यही कारण है कि अपनी मीमांसा के क्रम में मैंने कहीं भी दल-विशेष अथवा 'वाद'-विशेष को प्रश्रय नहीं दिया है।

'सर्वोदय-समाज' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील मेरे बन्धु इस प्रबन्ध में 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग न देखकर कदाचित् चौंकें। किन्तु मै समझता हूँ, वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि मेरी इस मीमांसा का उद्देश्य सबका कल्याण और सबका हित ही है। एक बात और। मेरा ध्यान अन्तिम स्वरूप की ओर नहीं, वरन् उन्नत जीवन की दिशा में बढ़ाये जानेवाले अगले चरण की ओर ही रहा है। एक बात यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मेरी इस मीमांसा का आधार राजनीतिक जीवन तक ही परिमित है।

वैसे मेरे इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता को अपने विचारों से अवगत कराने का ही रहा है, किन्तु सम्प्रति यह मीमांसा राजनीतिक दलों और उनके नेताओं के लिए प्रस्तुत की जा रही है। मैं समझता हूँ कि सक्रिय और व्यस्त व्यक्तियों के पास समय का अभाव होता है। अतः उन्हें यह विवेचन कुछ विस्तृत-सा लगेगा। परन्तु इससे संक्षेप में मैं अपने विचार प्रभावकर रूप में व्यक्त भी नहीं कर सकता था। प्रबन्ध कुछ शीघ्रता में लिखा गया है। इसलिए जितना विचारपूर्ण और अध्ययन-सापेक्ष्य मैं इसको बनाना चाहता था, उतना यह हो नहीं सका है। फिर भी जो कुछ बन पाया है, उससे ही मुझे आशा है कि राजनीतिक नेताओं, विभिन्न राजनीतिक दलों, समाचार-पत्रों और जनता द्वारा इस पर सहानुभूति के भाव से विचार किया जायगा।

ऐसे समय, जब कि सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्र के सर्वांगीण अभ्युत्थान की ओर सक्रिय होना चाहिए था, देश की अस्थिर राजनीतिक स्थिति,

दलों की अवस्था, लोगों का गिरता हुआ नैतिक स्तर तथा छोटी-छोटी बातों के लिए आपस के झगड़ों ने यह हालत पैदा कर दी है कि अब लोगों की प्रवृत्ति राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों पर नये ढंग से विचार करने की हो रही है। इसलिए मेरा और भी अधिक विश्वास है कि ऐसी परिस्थिति में जो मत यहाँ नम्रता और निष्ठापूर्वक प्रस्तुत किये जा रहे हैं, उन पर विवेकसम्मत विचार होगा।

यह प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। ये अध्याय एक प्रकार से स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि इनमें कई बातो की पुनरावृत्ति पायी जायगी। पहले अध्याय में लोक-तन्त्र का स्वरूप स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ व्यापक विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। दूसरे अध्याय में भारत की प्राचीन राज्य-शासन-व्यवस्था का वर्णन इसलिए किया गया है कि वह हमें आगे बढ़ने में मार्ग-दर्शिका का काम कर सके। तीसरे अध्याय में मैंने प्राचीन भारतीय ग्राम-समाज की चर्चा इस कारण की है कि लोग उसे समझें और उसे अपना मार्ग-दर्शक मानें। 'मानव की सामाजिक प्रकृति' नामक चौथे अध्याय में मैंने इस प्रबन्ध के मुख्य विषय —समाज-का स्वरूप, पश्चिमी देशों में इसका विघटन और इसके पुनस्संघटन के सिद्धान्त—पर विचार किया है। 'संसदीय लोक-तन्त्र की विफलता' पाँचवें अध्याय का विषय है। यह प्रकरण इसलिए उठाया गया है कि हम वर्तमान स्थिति से शिक्षा ग्रहण कर सकें। जो राज्य-शासन-व्यवस्था इस प्रबन्ध का वर्ण्य विषय है, उसको स्पष्ट करने और उसका आधार समझाने के लिए मैंने छठे अध्याय में 'समाज की अर्थ-व्यवस्था' के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ निवेदन किया है। प्रबन्ध के सातवे और अन्तिम अध्याय में मैंने संक्षेप मे सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का स्वरूप और ढाँचा चाहे जैसा भी हो, उसके प्रवेश-द्वार पर वे पद अंकित हैं, जिन्हें लोकतंत्र को विनष्ट करके ही मिटाया जा सकता है। वे पद हैं—विचार की स्वतंत्रता, साथ रहने की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। इनके बिना और विधि-युक्त शासन के बिना लोकतन्त्र टिक ही नहीं सकता। जहाँ इनका अभाव हो, वहाँ लोकतन्त्र की चर्चा ही बेकार है। अपने इस प्रबन्ध के आधार के रूप में इन पदों को स्वतःसिद्ध सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने के बाद ही मैं आगे बढ़ रहा हूँ। भारतीय लोकतन्त्र की सारी भित्ति इन्हीं पर खड़ी रह सकती है।

पटना,
सितम्बर, १९५९

जयप्रकाश नारायण

अनुक्रम

१.	लोकतन्त्र : कुछ सामान्य विचार	१
२.	अतीत से प्रेरणा	१७
३.	भारत के ग्राम-समुदाय	२८
४.	मानव की सामाजिक प्रकृति और समुदाय	३७
५.	संसदीय लोकतंत्र	५३
६.	समुदाय की अर्थ-व्यवस्था	६१
७.	भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना	७१
	परिशिष्ट 'क'	९०
	परिशिष्ट 'ख'	९८

पहला अध्याय

लोकतन्त्र : कुछ सामान्य विचार

: १ :

लोकतन्त्र की परिभाषा बताना मेरे लिए व्यर्थ की बात होगी। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। राजनीतिक आदर्श के रूप में हम लोकतन्त्र का वरण कर चुके हैं। अब हमारे सामने समस्या इसको व्यावहारिक रूप देने की है। इस प्रश्न के प्रसंग में ही यहाँ कुछ विचार व्यक्त किये गये हैं।

एक बात मैं आरंभ में ही स्पष्ट कर दूं। इस देश में हो या और कही, आदर्श आदर्श ही है। वह पूर्णरूप से प्राप्त कभी नहीं हो सकता। मनुष्य यही कर सकता है कि वह निर्धारित लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करे और यथासंभव उस तक पहुँचने का प्रयत्न करे।

यही कारण है कि बहुत-से राजनीतिक विचारकों ने आदर्श का स्तर इस हद तक घटा दिया है कि उन्होंने लोकतन्त्र को प्राप्य परिभाषा के अन्दर बाँधने तक की कोशिश की है। लोकतन्त्र पर एक मान्य विश्वप्रसिद्ध लेखक के क्या विचार है, यह जरा देखिये : 'जनता द्वारा जनता का शासन', 'जनप्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्र का शासन' बहुत ही आकर्षक बातें है, जिनसे जन-मन में उत्साह का संचार होता है और वक्ताओ के ओजस्वी भाषणों का प्रभावकर समापन होता है। किन्तु य लुभावने शब्द-समूह मृगमरीचिका ही हैं। आज तक जनता कही भी अपने को शासित न कर सकी है और न यह संभव है। सरकारो का संचालन सदा ही थोड़े, विशिष्ट आभिजात्य कुलो के हाथ में रहा है, जिसका साफ मतलब है बहुतो पर थोड़ो का शासन अर्थात् कुलीन-तंत्रात्मक शासन-व्यवस्था।[१] इसी लेखक ने पुनः लिखा है : 'जनता द्वारा जनता का शासन' सिद्धान्त के स्थान पर हमें यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित करना चाहिए : 'जनता से लिये गये विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा जनता का शासन'। (चिह्नित अंश लेखक के हैं)[२]।

एक अन्य लेखक के विचार देखिये : लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का वास्तविक रूप तो यह है कि जनता ही प्रत्यक्ष रूप से अपना शासन करे,

---

१. मारिस डुवरगेट . पोलिटिकल पार्टीज़, पृष्ठ ४२३–२५, लन्दन, अंग्रेजी संस्करण, १९५४।

२. वही, पृष्ठ ४२३–२५।

अपने लिए कानून बनाये, न्याय-व्यवस्था का संचालन करे और [यद्यपि यह अपेक्षाकृत कठिन कार्य है,फिर भी] प्रशासन का सारा कार्य स्वयं चलाये या उसकी देख-रेख करे। किन्तु ऐसा लोकतन्त्र न तो कभी अस्तित्व में आया है और न तब तक इसकी कोई संभावना है, जब तक लोग बड़ी-बड़ी राजनीतिक इकाइयो मे रहेगे। ऐसी अवस्था में राजनीतिक लोकतत्र का अनिवार्य रूप से यही भाव ग्रहण किया जाना चाहिए विधियुक्त प्रातिनिधिक शासन-व्यवस्था। लोकतन्त्र का अर्थ वस्तुतः जनता पर जनता का शासन नही है; जनता स्वयं कभी शासन नही कर पाती। लोकतंत्र का अभिप्राय यही है कि जनता का नेतृत्व करने का सुयोग हर व्यक्ति को मिल सकता है। पश्चिम में लोकतन्त्र का जो स्वरूप प्रचलित है, उसमे विचारों की विभिन्नता और उनके आधार पर नेताओं की विविधता के लिए पर्याप्त अवसर है। इस विभिन्नता और विविधता के बीच से ही जनता अपनी रुचि के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है।······इस दृष्टि से लोकतन्त्र की परिभाषा इन शब्दो में की जा सकती है : सरकार को पदारूढ और पदच्युत कर सकने की जनता की सक्षमता। लोकतन्त्र को इसके अतिरिक्त और कुछ कहना शब्दों का दुरुपयोगमात्र है।[1]

लोकतन्त्र के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रयुक्त ये मर्म-वचन हैं, किन्तु इनके सार्वकालिक सत्य होने में मुझे सन्देह है। यह निश्चित है कि पश्चिम में लोकतन्त्र जिस सीमा तक बढ़ पाया है, उसे हम 'निर्वाचित विशिष्टजन-शासन' कह सकते है अर्थात् पश्चिमी लोकतत्र वास्तविक लोकतंत्र नहीं, विशिष्ट जन-नियंत्रित लोकतंत्र है।

यह सन्दिग्ध है कि 'जनता' अनन्त काल तक इस स्थिति से परितुष्ट रह सकेगी। और फिर लोकतन्त्र पर अधिनायकवादी व्यवस्था की ओर से जो व्यापक प्रहार हो रहे हैं, उन्हें देखते हुए क्या यह शंका नही होती कि लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के अधीन रहनेवाले लोग स्वशासन की स्थिति का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं ?

यह भी विचारणीय प्रश्न है कि पश्चिम में लोकतंत्र की जो परिभाषा प्रचलित है, उससे क्या लोकतंत्रभावापन्न सार्वकालिक और सार्वदेशिक लोग, सामाजिक आदर्शवादी और विचारक तथा स्वयं मानव की अन्तरात्मा को तोष प्राप्त होगा ? मेरा तो खयाल है कि आज ये सारे तत्त्व—विचारक, आदर्शवादी, जनता एवं मानव की अन्तरात्मा—समवेत रूप से लोकतंत्र के नये स्वरूप—अधिक संतोषप्रद साझेदारी (participating) की

---

१. एच. बी. मेयो : डेमोक्रेसी ऐण्ड मार्क्सिज्म, पृष्ठ २५६, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५।

लोकतंत्रात्मक व्यवस्था--की माँग करने लगे है। मेरा यह भी दृढ विश्वास है कि जिस हद तक लोकतंत्र में साझेदारी की बात आयेगी, उस हद तक हम अधिनायकवाद के प्रहारों को रोक सकने और विफल करन में समर्थ होगे।

अतएव विद्वज्जनों के प्रति श्रद्धावनत होकर भी और यह मानकर भी कि आदर्श पूर्णत. प्राप्य नहीं है, मेरा आग्रह ऐसी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के लिए है, जिसमे अधिक-से-अधिक लोग अपना अधिक-से-अधिक शासन कर सकें। इस प्रबन्ध में ऐसे ही उपाय के शोध का मेरा प्रयास है।

: २ :

इस शोध के प्रसंग में मैं लोकतंत्र के बारे में कुछ विचार सामान्य रूप से प्रकट करना चाहता हूँ। (१) पहली बात यह कि लोक्तंत्र की समस्या मूलतः नैतिक समस्या है। संविधान, शासन-प्रणाली, दल, निर्वाचन--ये सब लोकतंत्र के अनिवार्य अंग है। किन्तु जब तक लोगो मे नैतिकता की भावना न रहेगी, लोगों का आचार-विचार ठीक न रहेगा, तब तक अच्छे-से-अच्छे सविधान और राजनीतिक प्रणाली के बावजूद लोकतत्र ठीक से काम नही कर सकता। लोकतंत्र के लिए ये नैतिक गुण और मानसिक प्रवृत्तियाँ आवश्यक है :

(क) सत्य के प्रति निष्ठा, (ख) हिंसा से विरति, (ग) स्वातन्त्र्य से प्रेम और दमन एवं उत्पीड़न का प्रतिरोध करने का साहस, (घ) सहयोग का भाव, (ङ) सार्वजनिक हित के साथ अपने हित की संगति बैठा लेने को तैयार रहना, (च) दूसरो के विचारों को तरह देने का भाव और सहिष्णुता, (छ) उत्तरदायित्व वहन करने के लिए तैयार रहना, (ज) सबको समान समझने की भावना के प्रति आस्था और (झ) मानव-स्वभाव के सुधार के प्रति विश्वास।

ये गुण और प्रवृत्तियाँ मनुष्य में जन्मजात नहीं होतीं। किन्तु शिक्षण द्वारा इन्हें प्राप्त कर लेने एवं जीवन में ढाल लेने की योग्यता उसमे उत्पन्न की जा सकती है। यह जान लेना चाहिए कि मानव में इन गुणों का उन्नयन राज्य का कार्य नहीं है। सामाजिक जीवन ही इस ढंग का होना चाहिए कि समाज के प्रत्येक सदस्य में ये भाव एवं गुण स्वयमेव उत्पन्न हों। सामाजिक आचार-व्यवहार, परिवार, धार्मिक एवं शैक्षणिक वातावरण, प्रतिष्ठित जनों के आचरण तथा जनमत का निर्माण करनेवाली संस्थाओं को संयुक्त रूप से इस बात के लिए यत्नशील होना चाहिए कि लोकतंत्र के विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न की जा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

लोकतंत्र की भावना को उत्पन्न एवं संवर्द्धित करने के लिए आधार प्रस्तुत करने का कार्य राजनीतिक नही, शिक्षणात्मक है।[१]

(२) यद्यपि ऊपर जिन गुणों और प्रवृत्तियो की चर्चा की गयी है, उन पर सूक्ष्म रूप से बिना किसी स्थिति और काल का उल्लेख किये ही प्रकाश डाला गया है, तथापि मै संक्षेप में केवल एक नैतिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, जो आधुनिक लोकतंत्र से विशेष रूप से सम्बद्ध है।

आज का युग मुख्यरूप से भौतिकवादी है। समाज-विशेष चाहे पूँजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा कम्युनिस्ट हो, यह निर्विवाद है कि जीवन के सभी तत्त्वों पर भौतिकवाद छा गया है। मनुष्य प्रकृत्या पदार्थ और भावना का सम्मिश्रित रूप है। इसीलिए उसकी पदार्थगत अर्थात् भौतिक आवश्यकताएँ भी होती है, जिनकी पूर्ति आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य का भौतिकवादी होना अनिवार्य है। परन्तु यदि उसकी भौतिक आवश्यकताएँ सीमा का बन्धन तोड़ दें तथा उसकी सारी क्रियाशीलता अधिकाधिक भौतिकवादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हो, तो समाज में वैषम्य की स्थिति तो आ ही जाती है, स्वयं मानव-जीवन में भौतिकवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। जिन महात्मा ईसा ने आध्यात्मिक जीवन-यापन के सम्बन्ध में इतने उदात्त उपदेश दिये थे, उन्हीके धर्म मे दीक्षित पश्चिमी देशों की आज ठीक यही अवस्था है।

लोग कहेंगे कि लोकतंत्र की समीक्षा के प्रसंग में इन अनर्गल बातों की चर्चा ही क्यों ? लेकिन मै इसे जरूरी समझता हूँ, क्योंकि मेरा यह दृढ़ मत

---

१. देखिये, मेरियम और गासनेस : जैसा कि जेफर्सन के समय मे, वैसा ही आज भी यह पूर्ण सत्य है कि लोकतन्त्र की आधारशिला शिक्षा है। अन्तर इतना ही है कि आज हम मानने लगे है कि यह शिक्षा सामाजिक होनी चाहिए, जिसमें हम परस्पर सहयोगपूर्वक लोकतंत्रात्मक व्यवस्था को अपने जीवन में ढाल लेने का अभ्यास कर सकें। और यह शिक्षण जितना ही शीघ्र आरम्भ हो सके, उतना ही श्रेयस्कर है। सामाजिक और राजनीतिक शिक्षण पाठशालाओं में ही आरम्भ हो जाना चाहिए; वयस्क होने पर नही। यदि यह शिक्षा-कार्य पाठशालाओं की शिक्षा के साथ ही बन्द हो जाय, तब तो यह निष्फल हो जायगा। किन्तु उसके बाद वयस्क-अवस्था में भी यह चालू रह सकता है, भले ही उसका ढंग पाठशालाओं के शिक्षण की तरह का न हो। इस अवस्था में यह उस भाँति चल सकता है, जिस भाँति विचार-विमर्श, समीक्षा, सामाजिक संघटन आदि की प्रक्रिया से सामाजिक शिक्षण का कार्य चला करता है। (अमेरिकन पार्टी सिस्टम, पृष्ठ ५०३)

है कि वर्तमान उद्योगवाद—फिर वह भले ही पूंजीवादी, समाजवादी या कम्युनिस्ट हो—ने और-और भी जिस भौतिकवादी प्रवृत्ति की सृष्टि कर रखी है, उसके साथ लोकतत्र का मेल नही खाता। दोनो साथ नहीं चल सकते। मेरी मान्यता है कि यदि मनुष्य वास्तविक रूप में स्वतंत्रता और स्वशासन की स्थिति का उपभोग करना चाहता है, तो उसे स्वेच्छा से अपनी जरूरतें घटानी होगी। अन्यथा और-और भी हाय-हाय का परिणाम होगा : पारस्परिक संघर्ष, दमन, उत्पीड़न और युद्ध। साथ ही इससे उत्पादन-वृद्धि का ऐसा अव्यवस्थित क्रम चल पड़ेगा, जिससे लोकतंत्र लुज-पुंज होकर नौकरशाही का चरण-चुबन करने लगेगा।

अपनी अमर रचना 'लास्ट फेज़' में श्री प्यारेलाल का कहना है : यह बात बिलकुल यथार्थ है कि लोकतंत्र और स्वतंत्रता उन लोगो के लिए अर्थहीन है, जो जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ से भी वंचित है। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि सासारिक सुखोपलब्धि करानेवाली वस्तुओं के पीछे पड़े रहना लोकतंत्र के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है और उनकी पूर्ति वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का हनन करके ही की जा सकती है। अधिक-से-अधिक भौतिक पदार्थों की उपलब्धि की आकांक्षा से प्रेरित सामूहिक उत्पादन की प्रणाली ने उस अवस्था की सृष्टि कर रखी है, समाज की ऐसी रचना कर डाली है, जिसमे व्यक्ति के व्यक्तित्व का पता ही नहीं चलता, वह लापता हो गया है।··· व्यक्तिप्रधान समाज में एक सर्वशक्तिसम्पन्न कार्य-पालिका का उदय हो गया है, जिसमें नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिज्ञो, नियोजनकर्ताओ, विशेषज्ञों और नौकरशाहो की बड़ी भारी जमात उठ खड़ी हुई है। विशेपाधिकार नया जामा पहनकर सामने आ गया है। विपुलता के नाम पर समानता की बलि चढ़ा दी गयी है।'[1]

विद्वान् लेखक ने आगे लिखा है : गान्धीजी ने आर्थिक समुन्नति का कभी विरोध नही किया। वे तो इस हद तक कह गये है कि भूखों के लिए दूध-रोटी ही ईश्वर है। 'गरीबो का धर्म अर्थ ही है।' उनका विरोध केवल इस बात से था कि वे भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि को ही विकास नहीं मानते थे। और न नैतिकता को भौतिकवाद के बाद की चीज मानने के लिए वे कभी तैयार हुए।[2]

यह निर्विवाद है कि आज जीवन के दो मूल्यों—अधिक सामग्री की उपलब्धि और अधिक स्वातंत्र्य की उपलब्धि के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। किन्तु जो मानव की स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं, उन्हें दोनों में से किसी एक को चुनने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। भारत

---

१. श्री प्यारेलाल : लास्ट फेज़, पृष्ठ ५७७, नवजीवन, १९५८।

२. वही, पृष्ठ ५७७–७८।

जैसे निर्धन देश में अभी वह अवस्था नहीं आयी है कि हम दोनों में से किसका वरण करें। फिर भी जीवन के आदर्श के रूप में किसका ग्रहण किया जाय और किसका त्याग, यह समस्या भारत के सामने भी उसी रूप में उपस्थित है, जिस रूप में यूरोप या अमेरिका के सामने।

भारत इनमें से किसका वरण करे, इसका निर्णय संसद् या किसी राजनीतिक आन्दोलन से नहीं, वरन् समाज के प्रतिष्ठित जनों के आचरण से ही हो सकता है।

(३) अपनी आवश्यकताओं को स्वेच्छया परिमित करना एक अन्य दृष्टि से भी लोकतंत्र के लिए महत्त्वपूर्ण है। लोक-तन्त्रात्मक देशों में राज्य की निरंतर बढ़ती हुई शक्ति और 'राज्यवाद' के विरुद्ध भावना उग्रतर होती जा रही है। यह भावना यथोचित है। लोकतन्त्रभावापन्न सभी लोग इसका समर्थन करेंगे। इस प्रसंग मे यह विचारणीय है कि स्थिति कैसे बदल गयी? जब आधुनिक लोकतंत्र की नींव पड़ रही थी, तो उस समय स्वतंत्र उद्योग और व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का प्राधान्य था। लोकतन्त्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता ऐडम स्मिथ ने कहा था: [राज्य की ओर से] अल्पतम प्रतिबन्धों द्वारा शासित और स्वहित के संरक्षण में तत्पर प्रत्येक व्यक्ति के प्रयास से सार्वजनिक संपत्ति की पर्याप्त अभिवृद्धि होगी।[१]

लेकिन जैसा कि प्यारेलालजी ने लिखा है—स्पष्ट आर्थिक वैषम्य और पूंजीपतियों की अनियंत्रित होड़ ने स्थिति ऐसी पलटी कि उससे उत्पन्न दोषों के परिहार के लिए राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया। लेकिन अनुभव बताता है कि एक बार भी यदि राज्य की ओर से हस्तक्षेप हुआ, तो उसके फलस्वरूप राज्य द्वारा निरन्तर लोगों का जीवन नियंत्रित करने की चेष्टा आरम्भ हो जाती है। और जो लोग लोकतंत्र के हामी होते हैं, वे अपने अधिनायकवादी प्रवृत्तिवाले प्रतिद्वन्द्वियों से मोर्चा लेने के लिए स्वयं अधिनायकवादी तरीके अपनाने को या तो विवश हो जाते हैं या लोकतंत्र के सड़े-गले ढर्रे पर चलते रहकर उनके मुकाबले दाँव पर दाँव हारते जाते हैं।[२]

अब हमारे सामने लोकतंत्र के समक्ष उपस्थित बड़ा पेचीदा मसला आ खड़ा होता है। वह समस्या यह है कि इस भँवर से पार कैसे निकला जाय? जब स्वतंत्रता की स्थिति रहती है, तो उसका दुरुपयोग होने लगता है, जिससे राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है और जब राज्य का हस्तक्षेप होने लगता है, तो स्वतंत्रता पर आँच आती है। सवाल यह है कि किस प्रकार स्वतंत्रता की भी रक्षा हो और उसका दुरुपयोग भी रुके।

---

१. श्री प्यारेलाल द्वारा 'लास्ट फेज़', पृष्ठ ५७६ पर उद्धृत।

२. श्री प्यारेलाल; लास्ट फेज़, पृष्ठ ५७६

यह सवाल किसी राजनीतिक तरीके से नही, वरन् नैतिक ढंग से हल हो सकता है। यह समझ लेना जरूरी है कि स्वतंत्रता के साथ ही उत्तरदायित्व भी लगा हुआ है। यदि मनुष्य सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने को तैयार नही होता, यदि वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर केवल स्वहित-साधन में तत्पर रहता है तथा दूसरों के हितों की उपेक्षा करता है या उन्हें हानि पहुँचाता है, तो उसकी इस कारखाई से राज्य का हस्तक्षेप अथवा 'राज्यवाद' अनिवार्य है। ऐसी स्थिति के लिए ही गांधीजी ने न्यासिता (Trusteeship) का सुझाव दिया था। राज्यवाद अथवा अधिनायकवाद का जवाब लोकतन्त्र यदि दे सकता है, तो केवल न्यास-विधान द्वारा। परन्तु यह न्यास-विधान तभी संभव हे, जब कि आवश्यकताएँ स्वेच्छया घटायी जायँ। कोई भी मनुष्य तब तक न्यासधारी नही हो सकता, जब तक कि वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग अपने साथियो के साथ करने को तैयार नहीं होता। और यह तभी कर सकता है, जब कि वह अपनी आवश्यकताएँ घटाना सीख ले। स्वेच्छया आवश्यकताएँ कम करना या यों कहिये कि भौतिकवाद से विरक्ति अथवा सांसारिक सुखोपलब्धि करानेवाले पदार्थों के निस्सीम संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग लोकतंत्र के लिए नितान्त आवश्यक है।

(४) अब यहाँ हमें फिर अर्थशास्त्रियों और अर्थशास्त्र के उनके सिद्धान्तों से लोहा लेना पड़ेगा, क्योंकि यह सवाल तुरत उठाया जा सकता है कि आर्थिक समुत्थान के नियमों की अवहेलना नहीं की जा सकती। आर्थिक विकास का क्रम तो अपने प्रकृत मार्ग का अनुसरण करेगा ही और विज्ञान एवं प्रविधि की उपेक्षा नही की जा सकती। लेकिन एक बात मै स्पष्ट कर दूँ कि आज के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त एक विशेष प्रकार की समाज-व्यवस्था को ध्यान में रखकर तैयार किये गये हैं, जो उस जीवन-पद्धति द्वारा शासित होती है, जिस पर हम अभी विचार कर चुके है। वह पद्धति है, असीम भौतिक समृद्धि की। लेकिन अर्थशास्त्र के और भी तो सिद्धान्त हो सकते हैं, जो ऐसी समाज-व्यवस्था के लिए हों, जिसका नियमन भिन्न प्रकार के सामाजिक विधान द्वारा किया जाय।

इसको कोई-कोई बाल की खाल निकालना भी कह सकते हैं। लेकिन मेरे मत का पोषण पश्चिम के एक प्रमुख अर्थशास्त्र-वेत्ता तथा ब्रिटेन के नेशनल कोल बोर्ड के आर्थिक परामर्शदाता डॉक्टर ई० एच० शूमाखेर के मत से होता है। डॉक्टर शूमाखेर समाजवादी विचारों के हैं। वे लन्दन की उस सोशलिस्ट यूनियन के सदस्य हैं, जिसने कुछ समय पूर्व 'ट्वेंटियथ सेंचुरी सोशलिज्म' नामक अद्भुत ग्रन्थ प्रकाशित किया था। यूरोपीय और एशियाई समाजवादी आन्दोलन पर इस ग्रन्थ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। डॉक्टर शूमाखेर कुछ समय तक बर्मा-सरकार के आर्थिक परामर्शदाता भी रह चुके हैं। रंगून के अपन निवासकाल में उन्होंने

'एक बौद्ध-देश की अर्थ-व्यवस्था' शीर्षक से एक व्याख्यान तैयार किया था। वह व्याख्यान आज तक छपा नही है, किन्तु डॉक्टर शूमाखेर ने उसकी एक प्रति मेरे पास भेज दी थी। वह व्याख्यान मैं इतना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि उसके कुछ अंश तो यहाँ उद्धृत कर ही रहा हूँ। उसे पूरा-का-पूरा इस प्रबन्ध के परिशिष्ट के रूप में भी दे रहा हूँ। साथ ही जो लोग यह प्रबन्ध पढ़ें, उनसे मेरा आग्रह यह व्याख्यान भी पढ़ जाने का है।

'आज हम जिसे अर्थशास्त्र का सिद्धान्त (विज्ञान) कहते है, उसका आधार जीवन का केवल एक पहलू है; एक ही और दूसरा नही, और वह है भौतिकवादी पहलू। ····विज्ञान अथवा सिद्धान्त के रूप मे अर्थशास्त्र का विकास केवल पश्चिम में हुआ और वह भी तब, जब कि पाश्चात्य भौतिकवाद का संसार पर प्राधान्य हो चुका था। भौतिकवाद के विरोधी विचारक इतने दबे-से रहे कि वे अपनी दृष्टि से इस पर विचार न कर सकें।······भौतिकवाद का तत्त्व भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास नहीं, वरन् अविवेकपूर्ण ढंग से भौतिक पदार्थों का असीम उत्पादन है।······चाहे कम्युनिस्ट देशों में हो या अन्यत्र, जो अर्थशास्त्र आज दुनियाभर में पढ़ाया जाता है, वह किसी प्रकार की सीमा का बन्धन नहीं मानता। इसलिए यह भौतिकवादी अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसमें जिस जीवन को आधार मानकर चला गया है, वह विशुद्धरूप से भौतिकवादी है। उसमे जीवन की और किसी पद्धति का समावेश नही किया जा सकता।······पता नही, कब आज के अर्थशास्त्र के शिक्षक अपने विद्यार्थियों को यह सही बात बतायेंगे कि ऐसे अर्थशास्त्र की शिक्षा दी जा रही है, उसका आधार निर्भ्रान्त-रूप से जड़वाद (भौतिकवाद) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो अन्य बातों पर विचार करने का अवसर भी नही देता। पता नहीं, कब वे यह स्वीकार करेंगे कि अर्थशास्त्रीय विवेचन के और भी ढंग संभव एवं आवश्यक हैं तथा मूलरूप में वे विद्यमान भी है। मैं यहाँ एक ही विचारक का नाम उपस्थित कर रहा हूँ। वे है इस युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति महात्मा गांधी। क्या आज के अर्थ-शास्त्रवेत्ता और अध्यापक गांधीजी को अर्थशास्त्री के रूप में जानते है? लेकिन गांधीजी ने आर्थिक प्रश्नों पर बहुत कुछ कहा है। उन्होने जिस आर्थिक सिद्धान्त का विवेचन किया है, वह हिन्दू-समाज से (और संभवत बौद्ध-समाज से भी) मेल खाता है। ······ऐसी हालत में, जब कि भौतिकवाद के विरोधी आगे बढ़ जाने में असमर्थ है, मैं अर्थशास्त्र के विद्वानों, अध्येताओं और साथ ही राजनेताओं से अनुरोध करूँगा कि वे उसी ध्यान और तन्मयता से महात्माजी के आर्थिक विवेचन का अध्ययन करें, जिस लगन से वे भौतिकवादी अर्थव्यवस्था का अध्ययन करते हैं।'

इन उद्धरणों से डॉक्टर शूमाखेर की पूरी विचारधारा समझ मे न आयेगी। इसके लिए तो उनका पूरा व्याख्यान ही पढ़ना होगा। किन्तु इतने से मेरे इस मत की पुष्टि हो जाती है कि आज के प्रचलित अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त और आर्थिक विकास के तथाकथित 'नियमों' की चकाचौध में आकर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि जीवन-यापन की इससे भी उन्नत प्रणाली हो सकती है तथा हमे अपनी अर्थ एव राज्यव्यवस्था को तदनुरूप ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। मुझे आशा है कि डॉक्टर शूमाखेर का अन्तिम वाक्य गाधी के भारत मे बसनेवाले राजनायको और अर्थशास्त्र-वेत्ताओं की आँख खोलने मे समर्थ होगा।

(५) यह स्मरण रखने की बात है कि लोकतन्त्र का मतलब विविध लोकतंत्रात्मक संस्थाएँ ही नही है। वस्तुतः इसकी भावना का समावेश जनजीवन में होना चाहिए। तत्त्वतः यह जीवन की एक प्रणाली है। लोकतंत्र की चरितार्थता प्रातिनिधिक विधान-सभाओ अथवा निर्वाचित सरकारो में नही, वरन् लोगो के स्वेच्छाप्रेरित सहयोगात्मक कार्यो में है, जिससे वे मिल-जुलकर अपनी समस्याओ का समाधान करते है, अपने हितों का साधन करते है और अपनी व्यवस्था का संचालन करते है। प्रोफेसर हेराल्ड लॉस्की से एक बार पूछा गया कि आपकी दृष्टि में लोकतन्त्र कब सफल समझा जा सकता है, तो उन्होने कहा कि तब, जब कि लोग स्वेच्छा से प्रेरित होकर अपने कर्तव्यों का पालन करें। जिन लोगो ने अध्यवसाय और प्रेरणाशक्ति का परिचय दिया है, उनके देश में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था सफल रही है। लार्ड बेवरिज ने अपनी 'वालंटरी ऐक्शन' (ए रिपोर्ट आन दि मेथड्स आफ सोशल ऐडवांस) पुस्तक की भूमिका मे लिखा है: अधिनायकवादी समाज-व्यवस्था मे घर के बाहर की नागरिकों की सारी कार्रवाइयों का निर्देशन और नियत्रण राज्य द्वारा होता है। किन्तु इसके ठीक विपरीत स्वतंत्र समाजव्यवस्था की विशेषता है, व्यष्टि अथवा समष्टि की हित-कामना से एकाकी अथवा संयुक्तरूप से घर के बाहर स्वेच्छया कार्य करने की ओर प्रवृत्त होना। लार्ड बेवरिज आगे कहते है . यह स्पष्ट है कि अब तक राज्य की ओर से जो कार्य हुए है, उनकी अपेक्षा उसे और अधिक कार्य करना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है या स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सामाजिक समुन्नयन की दिशा मे स्वेच्छाप्रेरित कार्यो के लिए और अधिक अवसर, स्थान एवं प्रोत्साहन मिलना चाहिए।[१]

(६) लोकतंत्र का मतलब केवल राजनीतिक अधिकार और शासन में जन-सहयोग नहीं है। प्रथम महायुद्ध के बाद से तो लोकतन्त्र से अभिप्राय

---

१. लार्ड बेवरिज : वालंटरी ऐक्शन, पृष्ठ १०, लन्दन, १९४९।

अधिकाधिक सामाजिक न्याय, अवसर की समानता और औद्योगिक लोक-व्यवस्था से माना जाने लगा है। पहले राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र में जो भेद समझा जाता था, वह अब मिट गया है तथा दोनों का एकीकरण कर इसे पूर्ण लोकतन्त्र कहा जाने लगा है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि आज का लोकतंत्र किसी प्रकार के समाजवाद या कम्युनिज़्म जैसे राज-नीतिक, आर्थिक सिद्धान्त से सम्बद्ध हो गया है। हालाँ कि यह सच है कि इन 'वादों' ने उपर्यंकित अर्थ में पूर्णरूप से लोकतंत्रात्मक व्यवस्था कायम करने का आश्वासन दे रखा था। परन्तु जहाँ तक कम्युनिज्म का सम्बन्ध है, यह देखने में आया है कि उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत लोकतन्त्र का विस्तार होना तो दूर रहा, राजनीतिक और आर्थिक दोनों क्षेत्रों में उससे लोकतंत्र का हनन ही हुआ है। अनुभव बताता है कि पहले की यह धारणा कि उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के साधनों पर राज्य के स्वामित्व के फलस्वरूप आर्थिक स्वाधीनता, शोषण की समाप्ति और उत्पादित सामग्री के यथोचित (न्याय्य) वितरण की अवस्था उत्पन्न होगी तथा राज्यनियंत्रण-मुक्त समाज की स्थापना संभव होगी—भ्रमपूर्ण सिद्ध हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हालत इससे उल्टी है।

जहाँ तक समाजवादी-व्यवस्था का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि कम्युनिस्ट-व्यवस्था की अपेक्षा इसमें हालत कुछ अच्छी है, क्योकि समाज-वादी-व्यवस्था के अन्तर्गत लोकतंत्रात्मक संस्थाओं के संरक्षण का विधान है। लेकिन शंका की बात यह है—और स्वयं समाजवादियों ने स्वीकार किया है—कि क्या केन्द्रीय सत्ता के हाथ में आर्थिक शक्तियों का पुंजीभूत होना, भले ही वह लोकतंत्रात्मक वातावरण मे हो, आर्थिक लोकतंत्र की दृष्टि से समीचीन है ? साथ ही यह शंका भी उठती है कि क्या इसका अन्तिम परिणाम राजनीतिक लोकतंत्र को कुंठित कर देना तो न होगा ?

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसमें दोष समाजवाद का उतना नहीं, जितना (१) राज्य की शक्ति के केन्द्रित हो जाने का और (२) व्यापक औद्योगीकरण का है।

केन्द्रीभूत एकात्मक राज्य में नागरिक शासन (सरकार) में भाग लेने से वंचित हो जाते है, भले ही उसे चुनने या हटाने का अधिकार उन्हें प्राप्त रहे और इसका उपभोग भी वे कर सकें। लोगों का यह अधिकार भी दलीय प्रणाली के अस्तित्व में आ जाने से एक प्रकार से सीमित हो गया है, क्योंकि इसमें चुनाव करने की उतनी स्वतंत्रता नहीं रह जाती।

जहाँ तक व्यापक औद्योगीकरण का प्रश्न है, प्रायः सभी समाजवादी

विचारक यह मानते लगे है कि इसका अनिवार्य परिणाम लोकतन्त्रात्मक अधिकारों में कमी होते जाना है।[1]

वैसे समाजवाद या कम्युनिज्म के प्रयोग में आने के बाद जो भी अनुभव हुआ हो, यह निश्चित है कि लोकतंत्र से स्पष्ट अभिप्राय सामाजिक-आर्थिक न्याय, अवसर की समानता, औद्योगिक लोक-व्यवस्था के साथ-साथ उन सभी बातों से ही है, जिन्हे हम राजनीतिक लोकतन्त्र के नाम से जानते-मानते है। और यदि इस तक्ष्य तक पहुँचा सकने में समाजवाद या कम्युनिज्म विफल हुए है, तो उस दिशा मे प्रयास जारी रखना नितान्त आवश्यक है। लोकतन्त्र कैसे सफल हो सकता है, इसका तो पता हमें लगाना ही होगा। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रयास की सफलता तभी संभव है, जब हम लोकतंत्र पर केवल आर्थिक-राजनीतिक नही, वरन् नैतिक दृष्टि से विचार करें।

(७) जात-पात और छुआछूत जैसी सामाजिक प्रणालियाँ एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ भी लोकतन्त्र के मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएँ है। जिस समाज में लोग जातिगत आधार पर ऊँच-नीच और अछूत समझे जाते हो, उसमे लोकतत्र नही चल सकता। यह दूसरी बात है कि हर व्यक्ति की योग्यता और क्षमता जन्म से ही भिन्न होती है, किन्तु इसकी ऊहापोह प्राणि-शास्त्र का विषय भले हो, जातिवाद से इससे कोई सम्बन्ध नही है। लोक-तन्त्र के प्रति आस्था रखनेवाले प्रत्येक भारतीय विचारक को यह समझ लेना चाहिए कि इस देश मे लोकतन्त्र के सबसे प्रबल शत्रु जातिवाद और अस्पृश्यता ही है। इसके साथ ही यह भी समझ लेने की बात है कि लोक-तन्त्र के इन प्रबल शत्रुओं को राजनीति के हथियारो से नही, वरन् शिक्षा और विवेक के शस्त्रों से भूमिसात् किया जा सकता है। थोड़ा बहुत इसका सम्बन्ध अर्थ-व्यवस्था से भी है। आर्थिक स्थिति सुधरने से दलित और पिछड़े वर्गो की सामाजिक अवस्था भी उन्नत हो सकती है। परन्तु इनकी आर्थिक स्थिति सुधर जाने से ही जाति-प्रथा समाप्त हो जायगी, यह मानना भूल है; क्योकि आर्थिक दृष्टि से समुन्नत जातिवाले भी परस्पर जातिगत भेद तो मानते ही है।

---

१. देखिये—एच. बी. मेयो : 'सच कहा जाय, तो स्वतन्त्रता, कला-कौशल, मनःशान्ति और भ्रातृत्व के लिए उतना खतरा राज्य से नहीं है, जितना स्वयं व्यापक औद्योगीकरण से है। यदि यह ठीक है, तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण और प्रविधि के सम्यक् व्यवस्थापन के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करना हम अब तक नहीं सीख पाये हैं। जो भी हो, गाडविन से लेकर लेविस मम्फोर्ड तक सभी प्रबुद्ध समाजवादी विचारकों का यही मत रहा है।'—(डेमोक्रेसी ऐण्ड मार्क्सिज्म, पृष्ठ २७३)।

(८) विदेशी शासन से हाल ही में मुक्त भारत जैसे देशों में तो लोकतंत्र की समस्या आर्थिक पिछड़ेपन एवं पिछले कुछ दिनों के बीच लोकतांत्रिक परम्परा के अभाव से और भी जटिल हो गयी है।

पूँजी-संयोजन की समस्या [जिसमें वर्तमान उपभोग और बचत के सीमा-निर्धारण की समस्या भी शामिल है], श्रमशक्ति और साधनो के निर्देशन और उपयोग का प्रश्न तथा आर्थिक विकास की अन्य विविध योजनाएँ जिस प्रकार सुविधापूर्ण एवं त्वरित गति से अधिनायकीय व्यवस्था [भले ही वह कम्युनिस्ट अधिनायकवादी व्यवस्था से भिन्न हो] में हल हो सकती हैं, उस प्रकार लोकतंत्रीय-व्यवस्था में नहीं। पिछड़े देशों में बुद्धिजीवियों के मन में इस कारण भी कम्युनिज्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है।

ऐसी हालत में इन देशों [भारत जैसे हाल में स्वतंत्र हुए देश] के सामने एक प्रकार की नैतिक समस्या उठ खडी होती है। जिन लोगो ने लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का मार्ग अपनाया है, उन्होंने निस्संदेह विकसित और समुन्नत प्रणाली अपनायी है और यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका मानसिक विकास उन लोगों की अपेक्षा कही अधिक हुआ है, जो भौतिकवाद को प्रमुखता प्रदान करते हैं।

बारीकी से छानबीन की जाय, तो पता चलेगा कि अधिनायकवादी व्यवस्था में लोगों को मिथ्या प्रलोभन देकर उन्हें अपनी स्वतन्त्र स्थिति का त्याग करने को विवश किया जाता है। यह देखा गया है कि लोगों को इस प्रकार दिये गये प्रलोभन न तो फैसिस्ट और न कम्युनिस्ट अधिनायकवादी व्यवस्था में पूरे हो पाये हैं। अधिनायकवादी व्यवस्थावाले देशों के आर्थिक विकास के पीछे मूल भावना शक्तिसंचय की होती है, शान्ति और समृद्धि की नहीं।[१] ४२ वर्ष की लम्बी अवधि के बाद भी कम्युनिस्ट अधिनायकवादी

---

१. देखिये—रेमण्ड एरन : भावी पीढ़ियों के लिए वर्तमान पीढ़ी किस हद तक त्याग करे और आर्थिक विकास की वांछित गति क्या है, इन दोनों प्रश्नों का एक ही राजनीतिक उत्तर है—वर्तमान पीढ़ी की ओर भावी पीढ़ी की अपेक्षा कम ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए। (चिह्नित अंश लेखक के)। आर्थिक-सैनिक सत्ता की दलील ही किसी भी कीमत पर भारी उद्योगों को अधिकतम प्रोत्साहन देने का आग्रह करती है। उत्पादनवृद्धि पर जोर उपभोग की दृष्टि से नहीं, शक्तिसंचय की दृष्टि से दिया जाता है, जिसमें युद्ध के खतरे का सामना करने की सामर्थ्य प्राप्त हो सके। इसके पीछे और कोई सिद्धान्त नहीं है। वैसे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार कम्युनिस्टों से यह आशा की जानी चाहिए कि वे सैन्य-शक्ति का संवर्द्धन

व्यवस्था में सम्पन्न विशाल औद्योगिक और आर्थिक विकास-योजनाओं के बावजूद सोवियत रूस की सामान्य जनता का जीवनस्तर ब्रिटेन और स्वीडेन की जनता के जीवनस्तर से कही घटिया है, अमेरिका की तो कोई बात ही नही। कदाचित् चेकोस्लोवाकिया को छोड़कर अन्य कम्युनिस्ट देशों मे तो यह और भी हीन है।

प्रसंगत. यहाँ हमें लोकतंत्रात्मक व्यवस्थावाले पिछड़े देशों के आर्थिक विकास का क्रम समझने की कुंजी प्राप्त हो गयी है। यदि ये देश भी सैनिक-शक्ति सुदृढ़ करने के उद्देश्य से आर्थिक-विकास-योजनाओं की ओर प्रवृत्त होंगे, तो इनका विकास ध्रुव है। लोकतन्त्रात्मक भारत इस दिशा में चीन के मुकाबले टिक नहीं सकता। सैन्य-प्रधान आर्थिक शक्ति-संचयन की दिशा मे यदि भारत अग्रसर हुआ, तो उसे या तो अपने लोकतन्त्र को नमस्कार कर लेना होगा या फिर चीन के मुकाबले पराजय स्वीकार कर लेनी पड़ेगी।

जिन्होंने हाल ही में लोकतन्त्र का मार्ग अपनाया है, उन्हें इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर ही लेना होगा कि वे आर्थिक विकास की ओर सैन्य-शक्ति मे वृद्धि करने के उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे हैं या शान्ति और समृद्धि के उद्देश्य से। लोकतंत्र की व्यवस्था के अन्तर्गत चलनेवाले देशो को आज यह निश्चय कर लेना है कि अपनी प्रतिरक्षा के लिए उन्हें सैन्यशक्ति पर निर्भर रहना है अथवा शान्ति-प्रयासो एवं जनता की नैतिक शक्ति पर। गांधीजी को राष्ट्रपिता घोषित करनेवाले भारत से कम-से-कम यह तो आशा की ही जाती है कि वह सैन्यशक्ति बढ़ाने के लिए नही, जनता को सुखी बनाने और ससार मे शान्ति का प्रचार करने के लिए अपना आर्थिक विकास और निर्माण करेगा।

(९) जहाँ तक उपरिलिखित दूसरी कठिनाई का प्रश्न है, यह मानना पड़ेगा कि पिछडे देशों में लोकतन्त्र की परम्परा का पिछले कुछ दिनो के बीच अभाव होने से इस व्यवस्था के सघटन की समस्या वस्तुतः पेचीदी है। कुछ लोग तो इसे इतनी पेचीदी समझते हैं कि उन्हें क्षण-क्षण आशंका रहती है कि इन देशों में किसी घड़ी अधिनायकवाद सिर उठा सकता है। और इस आशंका में कितना औचित्य है यह कतिपय एशियाई-अफ्रीकी देशों के हाल के इतिहास से प्रमाणित हो जाता है।

करने की अपेक्षा जनता का जीवनस्तर समुन्नत करने की ओर अधिक प्रवृत्त होंगे।—पोलिटिकल डेमोक्रेसी ऐण्ड सोशल ऐण्ड एकानामिक प्रोग्रेस, पृष्ठ २ (रोड्स इंटरनेशनल सेमिनार के लिए प्रस्तुत निबन्ध, १९५८)।

डाक्टर दयाकृष्ण जैसे विवेकशील विचारक को भी इस आशंका के वशीभूत होकर लोकतंत्र की यह नकारात्मक परिभाषा प्रस्तुत करनी पड़ी : लोकतंत्र उस विधि और व्यवस्था का नाम है, जिससे मुख्यतया तो राजनीतिक-न्यायिक क्षेत्र मे, किन्तु मूलत: विचार और सिद्धान्त के क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली उन प्रवृत्तियों का निरोध और उन्मूलन किया जा सके, जो अत्याचार एवं उत्पीड़न को जन्म देती हैं। यह ज्ञातव्य है कि उत्पीड़न की प्रवृत्ति के विकसित हो जाने की सम्भावना हर समाज में सदैव ही बनी रहती है।[1]

मै डाक्टर दयाकृष्ण के इस विचार से सहमत हूँ कि जब तक जनसमाज का बहुलांश लोकतंत्र के महत्त्व और गुण को स्वीकार नहीं करेगा और उसको समाज के लिए आवश्यक अन्य गुणो की भाँति अपनायेगा नही, तब तक लोकतंत्र की कोई व्यवस्था चल नही सकती। डाक्टर दयाकृष्ण आगे कहते हैं : मेरा कहना है कि हाल ही में स्वतन्त्र हुए देशों के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं की यह सबसे बड़ी विफलता रही है। वे लोकतन्त्र को मान्य करार देकर जनता से केवल उसकी समस्याओं की चर्चा करते हैं। मैं कहता हूँ कि जब तक जनसमाज को इस बात का ज्ञान न कराया जाय कि वह लोकतन्त्र का महत्त्व और गुण समझे, तब तक इस बात की कोई आशा नहीं कि सर्वाधिकारवादी शक्तियों द्वारा विविध प्रचारो के माध्यम से प्रस्तुत 'उतोपिया' की मृग-मरीचिका में लोग फँस न जायँ अथवा उनकी अकल्पनीय उद्दाम हिंसा के नग्न प्रदर्शन से त्रस्त होकर उनके सामने घुटने न टेक दें।[2]

(१०) यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या जनसमाज को लोकतंत्र के गुणों से परिचित कराने और उसमें इसके प्रति निष्ठा का भाव भरने का समय रह गया है ? मै स्वयं अनुभव करता हूँ कि यद्यपि भारत में सैनिक या अन्य किसी प्रकार के अधिनायकवाद के खतरे की बात टाली नहीं जा सकती, तथापि तत्काल किसी आशंका के लिए स्थान नहीं है। यह मानते हुए भी कि हमारे पास समय नहीं रह गया है और लोकतंत्र को अपने अस्तित्व के लिए विरोधी शक्तियों से जूझना पड़ रहा है, मैं पूछता हूँ कि लोकतंत्र की रक्षा का इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही क्या है कि लोग उसके गुणों को समझें, मानें और उनकी रक्षा के लिए हर प्रकार से तत्पर रहें ? [सर्वसत्तासम्पन्न] अधिनायक-तंत्र को विफल करने का एक ही और उपाय है; वह है : पहले से ही 'लोकतंत्रात्मक अधिनायकवाद' की व्यवस्था। कहने का मतलब यह कि ऐसे अधिनायकवादी तंत्र की स्थापना जान-बूझ-

---

१. दयाकृष्ण : रोड्स इंटरनेशनल सेमिनार (१९५८) के लिए प्रस्तुत निबन्ध 'व्हॉट इज़ डिमोक्रेसी', पृष्ठ २।

२. वही, पृष्ठ ८।

कर कर डालना, जिससे ऐसे अधिनायक-तन्त्रों से देश की रक्षा की जा सके, जो लोकतंत्र को कुंठित कर डालने के लिए हर घड़ी तैयार बैठे रहते है।

मुस्तफा कमाल अतातुर्क द्वारा तुर्की मे पहले जिस अधिनायक-तंत्र की प्रतिष्ठा की गयी थी और जो बाद मे, बाह्य रूप में ही सही, पश्चिमी ढंग के लोकतंत्र तथा दो-दलीय प्रणाली के रूप मे परिवर्तित हो गया, इसका अच्छा उदाहरण है। काहिरा से लेकर जकार्ता तक के आज के सभी अधिनायक इस बात का दावा करते है कि वे अपने-अपने देशो मे अपने विचारों के अनुसार लोकतंत्र की भूमिका तैयार कर रहे है। यद्यपि उनकी नीयत के प्रति अविश्वास करने का कोई कारण नही दिखायी देता, तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि सम्प्रति कुछ समय के लिए---और पता नही यह अवधि कब तक चलेगी---इन देशो में लोकतत्र का त्याग कर दिया गया है।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि तीन बातें ऐसी है, जो इस स्थिति से भारत की रक्षा कर सकती है. (१) ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध होने के कारण यहाँ के बुद्धिजीवियो का एक बहुत बड़ा भाग ब्रिटेन के उदारवादी लोकतंत्र के प्रभाव के और आगे चलकर एक अल्पमत भाग समाजवादी लोकतंत्र के प्रभाव में रहा है। (२) गांधीजी के प्रभाव के कारण स्वातंत्र्य-संग्राम ने कुछ अश तक बुद्धिजीवी वर्ग और जन-साधारण में भी लोकतंत्र का भाव प्रतिष्ठित करने मे सफलता प्राप्त की है। जनमन पर गांधीजी का प्रभाव आज भी पर्याप्त है और विनोबाजी के प्रयासों से यह पुनः बढ़ रहा है। (३) यद्यपि हाल के दिनों मे भारत मे लोकतंत्र की परम्परा का अभाव रहा है, तथापि कई शताब्दियों तक इस देश के अनेक भागों में प्राचीन काल मे लोकतंत्र फलता-फूलता रहा है। इस सुदृढ परम्परा के अंक में और उससे प्रेरणा प्राप्त कर आधुनिक काल में लोकतंत्र का निर्माण करने का प्रयास होना चाहिए। इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक मैंने तीसरे अध्याय में विचार किया है।

(११) ऊपर जिस खतरे की ओर संकेत किया गया है, उससे एक बात यह निकलती है कि लोकतंत्र की नींव ही मुख्यरूप से सुदृढ़ करने की जरूरत है, जिससे यदि शिरोभाग में कोई गलती हो जाय, तो उससे जड़ भी न हिल जाय; वरन् वह इतनी सशक्त रहे कि झटका सहकर भी लोकतंत्र को सुरक्षित रख सके। प्राचीन काल की ग्राम-परिषदों, नगर-समितियों एवं व्यावसायिक---शिल्पिक-संघों (श्रेणियों) की यह विशेषता थी। राज्य आये-गये, साम्राज्य उठे-बैठे, राजाओं और साम्राटों का उत्थान-पतन हुआ, किन्तु लोकतंत्र के ये अंग, जिनका आधार कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं, सामान्य जनसमुदाय था, बराबर चलते रहे। धार्मिक और जीवन-प्रणाली की एकरूपता के अलावा इन आधारभूत लोकतांत्रिक संस्थाओं

के चलते ही भारतीय सामाजिक परम्परा और संस्कृति का क्रम अनवरत रूप से आगे बढता रहा ।[1] आगे मै लोकतंत्र के आधारभूत इन संस्थाओं के संघटन के विषय में विस्तारपूर्वक निवेदन करूँगा ।

: ३ :

गणित की भाषा में हम कहें तो कह सकते है कि लोकतंत्र अनेक प्रखंडों (factors) का सिद्ध रूप (function), विविध प्रक्रियाओ का परिणाम है । व्यक्तिविशेष अथवा समाज के एकाकी कार्य से लोकतंत्र का रूप नही खड़ा किया जा सकता । लोकतंत्र के अनेक खण्डात्मक विशाल प्रासाद के निर्माण के लिए कई प्रकार की ईटो, गारों और अन्य सामग्रियों के साथ निर्माताओं की भी आवश्यकता है। यह बड़ी कारुणिक स्थिति है कि हमारे देश में यह बात नहीं महसूस की जाती है । अन्यथा राजनीति का ही भूत हमारे देशवासियों के सिर न सवार होता तथा लोकतन्त्र का सम्यक् विधान करने के उद्देश्य से और प्रकार के कार्यो में भी अवश्य ही हाथ लगाया जाता ।

भारतीय लोकतन्त्र की समस्या को इस पृष्ठ-भूमि में प्रस्तुत कर अब मै उन विषयों पर विचार करने का प्रयत्न करूँगा, जो इस देश में लोकतंत्र की सम्यक् प्रतिष्ठा और विकास के लिए मेरे विचार से अपरिहार्य है ।

● ● ●

---

१. देखिये, इस सम्बन्ध में योगिराज श्री अरविन्द क्या कहते है : भारत के समकालिक प्राचीन राष्ट्र और बाद में भी विकसित राष्ट्र कालान्तर में समाप्त हो गये, केवल उनके नाम रह गये । यूनान और मिस्र का आज संसार के मानचित्र पर केवल नामभर रह गया है । आज के एथेंस और काहिरा में उनके निर्माताओं की आत्मा का वह ओज नही रह गया है । रोम ने एक समय भूमध्य-सागर के चतुर्दिक् अपना प्रभुत्व स्थापित कर राजनीतिक और बाह्य दृष्टि से सांस्कृतिक ऐक्य कायम कर रखा था। किन्तु नैतिक-आध्यात्मिक एकरूपता और सांस्कृतिक समन्वय की सृष्टि वह न कर सका । इसका फल यह हुआ कि पूर्व पश्चिम से पृथक् हो गया । अफ्रीका पर रोम के आधिपत्य का कोई स्थायी प्रभाव न पड़ पाया और यहाँ तक कि पश्चिमी राष्ट्र, जो आज भी अपने को लैटिन कहते हैं, बर्बर आक्रामकों का सक्रिय प्रतिरोध न कर सके तथा विदेशी शक्ति से ओजस् प्राप्त कर नये रूप में समुत्पन्न हुए और इटली, फ्रांस, स्पेन आदि नामों से अभिहित होने लगे । लेकिन भारत आज भी जीवित है और अपनी प्राचीन मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक परम्पराएँ जीवित रखे हुए है। पृष्ठ, ४२०

दूसरा अध्याय

अतीत से प्रेरणा

: १ :

यह सर्वविदित है कि भारत की प्राचीन अथवा मध्यकालीन राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में हमें बहुत ही कम साहित्य उपलब्ध है। फिर भी विद्वानों ने परिश्रम करके जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है, उससे भारतीय राज्य-व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है।

मेरा खयाल है कि इस राज्यपद्धति का और इसके प्रकाश मे सम्पूर्ण-भारतीय जीवन एवं संस्कृति का अध्ययन वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं के निर्धारण के लिए उपयोगी ही नही, आवश्यक भी है। इसमे सन्देह नही कि तब की अपेक्षा आज राजनीतिक विचारधारा काफी विकसित हुई है और ससदीय लोकतंत्र जैसी प्रणालियां व्यवहार मे आने लगी हैं, जिनसे हमें बहुत कुछ सीखना है। फिर भी यह निश्चित है कि कोई भी विचार-धारा या व्यवस्था तब तक सफल नही हो सकती या राज्य-पद्धति के स्वस्थ विकास में सहायक नहीं हो सकती, जब तक कि उसकी भित्ति देशविशेष की परिस्थितियों, परम्पराओं और मान्यताओ पर खड़ी न हो।

हजारों वर्ष की लम्बी अवधि में भारतीय समाज को नाना प्रकार की परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है। लेकिन इनके बावजूद हमारी मूल भावना सदा ही एक-सी रही है और भारतीय जन-जीवन की अखंड परम्परा अबाध गति से आगे बढ़ती रही है। भले ही कभी-कभी देखने में—विशेषकर पराभव और पतन के काल में—सारी व्यवस्थाएं उद्ध्वस्त हो गयी दिखायी पड़ती हो, परन्तु उनकी अन्तर्वृत्ति एवं भावना सदैव ही अकुंठित रही है।

आज एक बार पुन. भारत ऐसी ही पतनावस्था से उबर रहा है। इसलिए भावी भारत के निर्माताओ का यह कर्तव्य है कि वे उन स्रोतों का पता लगायें, जो शाश्वत भारतीय जन-जीवन को गतिशील बनाये रखने में समर्थ हैं। आज जिस पद्धति का हम विधान करने चले हैं, उसकी संगति निश्चय ही भारत की शाश्वत भावना और अखंड परम्परा से बैठनी चाहिए।

कदाचित् कुछ लोग यहां कहें कि लोकतंत्र के मार्ग पर अग्रसर होने के प्रसंग में अतीत से प्रेरणा प्राप्त करने की बात बेतुकी-सी लगती है। किन्तु यह जान लेना चाहिए कि लोकतंत्र का जनक भारत ही रहा है और यहाँ के

कई गणराज्य तो हजारों वर्ष तक चलते रहे[1]। बाद में राजतंत्र का उदय होने और भारतीय राज्य-व्यवस्था में उसका प्राधान्य हो जाने पर भी प्राचीन-काल में राजा निर्वाचित होते थे और उन्हें क्षत्रियों के अभिजात तंत्र के अधीन रहना पड़ता था। यहाँ तक कि वंश-परम्परागत राजतंत्र का प्राधान्य हो जाने और [शासन]-समितियों के समाप्त हो जाने पर भी ग्राम एवं नगर-संघ, व्यावसायिक-शिल्पिक-संघ, वर्णव्यवस्था, धर्माचरण-विधान केन्द्रीय शासन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त थे। केन्द्रीय शासन इनके कार्यों में कदाचित् ही कभी हस्तक्षेप करता हो। और ये सब संघ मिलकर भारतीय राज्य-व्यवस्था के लिए सुदृढ़ लोकतंत्रात्मक आधार प्रस्तुत करते थे। ग्राम-समाज के ये लोकतांत्रिक संघटन इतने सुदृढ़ और सुव्यवस्थित थे कि ब्रिटिश शासन-काल तक चलते रहे। इसलिए आज लोकतंत्र का विधान करने के प्रसंग में प्राचीन भारत की राज्यपद्धति पर विचार करने की बात निरर्थक तो है ही नहीं, वह—विशेषकर उसके अन्तर्वर्ती सिद्धान्त—हमारे लिए अत्यधिक सहायक ही सिद्ध होगी।

: २ :

योगिराज अरविन्द की क्रान्तिदर्शी कल्पना ने भारतीय राज्य-व्यवस्था के दृढ़ आधार का जो स्वरूप उपस्थित किया है, उसे यहाँ विस्तारपूर्वक मैं उद्धृत कर रहा हूँ। आप लिखते हैं : भारतीय राज्य-व्यवस्थारूपी विशाल प्रासाद के निर्माण, विस्तार और पुनर्निर्माण की आधार-शिला का नियंत्रक एक यही सिद्धान्त रहा है कि समुदाय (समाज) के प्रत्येक अंग को आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त रहे। आत्म-निर्णय का यह अधिकार तथा यह व्यवस्था जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रही है, जब कि आज राष्ट्रीय जीवन के एक अंग-विशेष राजनीति तक ही यह परिमित है, और वह भी सामूहिक मतदान एवं ऊपरी ढाँचे पर प्रातिनिधिक संस्थाओं के संघटन के रूप में। इसका स्वरूप स्वतंत्र समन्वित सामुदायिक व्यवस्था का रहा है तथा जिस स्वतंत्र स्थिति की परिकल्पना इसमें की गयी थी, उसका आधार वैयक्तिक स्वातंत्र्य नहीं, अपितु सामुदायिक स्वातंत्र्य था।[2]

---

१. यह निश्चय कर पाना वस्तुतः कठिन है कि किस देश में पहले-पहल लोकतंत्र का उदय हुआ। साथ ही यह कह सकना भी कठिन है कि प्राचीन-तम गणराज्य कौन-सा था। किन्तु यदि कहना ही पड़े, तो उत्तर भारत के विविध राज्यों की ओर देखना पड़ेगा। (चिह्नित अंश लेखक के)—सी० नार्थकोट पार्किसन : दि इवोल्यूशन आफ पोलिटिकल थॉट, पृष्ठ १६८।

२. श्री अरविन्द : फाउंडेशंस आफ इंडियन कल्चर, पृष्ठ ३९६, श्री अरविन्द-आश्रम, भारतीय संस्करण, १९५९।

आप आगे लिखते हैं : आरम्भ मे समस्या उतनी जटिल नही थी, क्योंकि केवल दो प्रकार के सामुदायिक संघटन—ग्राम और गण, कबीले या क्षेत्रीय निवासियों के—सामने थे। पहले [ग्राम] के स्वतंत्र सुसंघटित जीवन का आधार था, स्वाधिकार प्राप्त ग्रामसमाज। यह इतना सुव्यवस्थित और सुसंघटित था कि बीच-बीच मे आ पड़नेवाली कठिनाइयो एवं अन्य प्रणालियों के प्रहारो के बावजूद कुछ समय पूर्व तक चलता रहा। ब्रिटिश नौकरशाही के दुर्दमनीय और जीवन-तत्त्वविहीन थपेड़ो से जाकर यह हाल ही में समाप्त हुआ है।····किन्तु यह पद्धति उसी समाज के उपयुक्त थी, जो सामान्य कृषक जीवन या चरवाहो का जीवन व्यतीत करता था और छोटे-छोटे क्षेत्रो मे निवास करता था। आगे चलकर जब सामाजिक जीवन और जटिल हुआ, तो यह पद्धति अनुपयोगी प्रतीत हुई। फलत: इसमें संशोधन के बाद जिस पद्धति का विकास हुआ, वही भारतीय व्यवस्था की आधार-शिला बनी। आर्य-जाति के प्रत्येक समुदाय मे प्रारम्भिक काल में खेती और चरवाही के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था की नींव पड़ी। आगे चलकर भी कृष्टवाह (Krstayah) आर्यो के समाज-संघटन का व्यापक और मुख्य आधार रहा। किन्तु इसके ऊपरी ढाँचे पर वाणिज्य, उद्योग, कला, कौशल आदि के विशाल संघटन खडे हो गये तथा सैनिको, राजनीतिज्ञो, धर्माचार्यो और विद्या-व्यवसायियों का भी संघटन अस्तित्व में आ गया। परन्तु ग्राम-समुदाय बराबर ही इस सामाजिक संघटन का सुदृढ आधार बना रहा, जिसके ऊपर सौ-पचास गाँवो का एक-एक संघातमक समुदाय बनता गया, जो प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से एक-एक प्रधान के अधीन आता गया। और जैसे-जैसे दूसरे संघों पर विजय प्राप्त करके या परस्पर सन्धि करके गणराज्य अथवा संघबद्ध गण-राष्ट्र विस्तृत होते गये, वैसे-वैसे ये गण बडे संघों की इकाइयो का रूप प्राप्त करते गये। पीछे मंडलों और बड़े राज्यो तथा साम्राज्यो के अस्तित्व मे आने पर भी वे इकाइयाँ अपने मूल रूप मे विद्यमान रहीं।[1]

श्री अरविन्द आगे कहते हैं : सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के सुसंघटन में भारतीय कितने सक्षम थे, यह इसीसे समझा जा सकता है कि उन्होंने नित्य बदलती और विकसित होती परिस्थितियों और तज्जन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की परिकल्पना करके बहुत सफल ढंग से आत्म-निर्णयकारी स्वतंत्रतायुक्त सामुदायिक प्रणाली की नींव डाली थी। प्रतिभाशील भारतीय मनीषियों ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की सृष्टि की। ऊपर-ऊपर से देखने पर तो ऐसा लगेगा

---

[1] श्री अरविन्द : दि फाउंडेशंस आफ इंडियन कल्चर, पृष्ठ ३९६-९७, श्री अरविन्द-आश्रम, भारतीय संस्करण, १९५९।

कि अन्य देशीय समाजों में समय-समय पर प्रचलित और प्रकृत रूप से विकसित जो सामाजिक व्यवस्थाएँ——जिनके अन्तर्गत धर्माधिष्ठातृ-वर्ग, सैनिक-राजनीतिक अभिजात वर्ग, शैल्पिक-कार्षिक-व्यावसायिक वर्ग और दासों तथा श्रमिकों का सर्वहारा वर्ग आता है——रही है, उनसे भारतीय प्रणाली कुछ भिन्न न थी, वरन् उनकी अपेक्षा यह केवल थोड़ी और व्यवस्थित और अनुशासित थी। किन्तु यह सादृश्य बाह्य ही है। भारतीय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की भावना का स्वल्पांश भी इसमें नहीं है। उत्तर वैदिक और पौराणिक काल में यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिलकुल ठीक-ठीक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे में ढल चुकी थी और इस ढाँचे के अन्तर्गत प्रत्येक संघटन को अपना प्रकृत अंश प्राप्त था। परन्तु किसी भी मूलभूत कार्य में किसीका अंश या अधिकार एकाकी नहीं समझा जाता था। प्राचीन भारतीय पद्धति से अवगत होने के लिए इस विशेषता का परिज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बड़ी भारी विडम्बना है कि पतनावस्था की परिस्थितियों के अतिरंजित वर्णन और मिथ्या-धारणाजन्य अज्ञान के कारण इस विशेषता की उपेक्षा की गयी है।····यद्यपि आगे चलकर यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था वंश-परम्परागत और इसीलिए कठोर हो गयी, फिर भी यदि अन्त्यजों (अथवा जातिच्युतों) का प्रश्न छोड़ दिया जाय, तो प्रत्येक वर्ण ने अपनी मर्यादा और उपयोगिता का मापदण्ड स्थिर कर लिया था तथा समुदाय के भीतर अपने लिए प्रतिष्ठा, शिक्षण, नैतिकता, कर्तव्य एवं अधिकार का स्तर निर्धारित कर लिया था।

: ३ :

भारतीय राज्य-व्यवस्थाविषयक डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल के महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों के आधार पर ये निबन्ध लिखे गये थे। बाद में और विद्वानों ने इस दिशा में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, उनसे पता चलता है कि डाक्टर जायसवाल ने बहुत-से निष्कर्ष निकालते समय कुछ जल्दबाजी की थी।[१] किन्तु इससे डाक्टर जायसवाल की मान्यताओं या श्री अरविन्द की सूक्ष्म दृष्टि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

हम यह देखते है कि समुदाय एवं सामुदायिक जीवन के विकास तथा आत्म-नियमन का ढंग भारतीय राज्य-पद्धति की विशेषताएँ थीं। भारत में राज्य के विकास का क्रम ऋग्वैदिक काल के छोटे-छोटे राज्यों से प्रारम्भ

---

१. देखिये——के० पी० जायसवाल अनुसन्धानशाला, पटना के संचालक डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर की पुस्तक: स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन एंशियेंट इंडिया।

होकर मौर्यों और गुप्तो के विशाल साम्राज्य तक चला है। इस बीच की अवधि में पंजाब, सिन्ध, पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तरी बिहार मे अभिजात-तन्त्रात्मक गणराज्यों का भी समय आता है। इन्हे सघ या गण कहते थे। राज्यों के अन्य रूप भी समय-समय पर रहे है—राज्य, स्वराज्य, भौज्य, द्विराज्य, वैराज्य, महाराज्य, साम्राज्य। परन्तु इन सबके अस्तित्व-काल मे अपने आन्तरिक विधानो के अनुसार सामुदायिक जीवन व्यवस्थित रूप से चलता और विकसित होता रहा। और यत. ये सघटन नित्य बदलते राज्यो के स्वरूप की अपेक्षा अधिक सुदृढ और व्यवस्थित थे, अत. चाहे गणराज्य हो अथवा वश-परम्परया शासित राज्य हो, इनकी व्यवस्था में कभी हस्तक्षेप नही करते थे। इसके विपरीत वे आश्वासन देते थे कि ये संघटन अपने नियमों एव विधानो के अनुसार चलते रहेगे। राज्य तभी हस्तक्षेप करता था, जब ये संघटन अपनी सीमा और अपने कार्यो एवं अधिकारो की सीमा की उपेक्षा कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते थे। किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते थे।

जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, प्राचीन भारत मे समुदाय के दो रूप थे। पहले का आधार-क्षेत्र ग्राम अथवा नगर था। सामुदायिक जीवन के विकास के साथ-साथ इनका क्षेत्र विस्तृत होता गया और कई-कई ग्राम, नगर अथवा पूरे राज्य का सामाजिक जीवन एक-सा हो गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं रहा।

समुदाय के दूसरे रूप का आधार कर्मात्मिक था। अर्थात् इसका विभाजन कर्म के आधार पर हुआ था। वर्णों के विधान का आधार यही था। यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य अपने पड़ोसियों के साथ हिल-मिलकर रहे, उनके रीति-रिवाजों को अपना ले। ठीक उसी प्रकार एक ही धंधे में लगे लोगो का, भले ही वे दूर-दूर बसते हों, आपस में सम्बद्ध होना स्वाभाविक है। यही अवस्था समुदाय के दूसरे रूप का आधार थी। एक ही धंधे में लगे लोग एक ही ढंग की जीवन-पद्धति अपनाते थे; उनकी एक-सी समस्याएँ थीं और पूरे समाज के प्रति उनके एक प्रकार के अधिकार और उत्तरदायित्व थे। इस प्रकार समाज-संघटन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित कार्य हुआ और चार वर्णों का विधान कर समाज-व्यवस्था को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। अपनी आन्तरिक व्यवस्था में पूर्ण स्वतंत्र होते हुए भी प्रत्येक वर्ण पूरे समुदाय से सम्बद्ध और उसके प्रति जिम्मेदार था। व्यक्ति का समुदाय के इन दोनों रूपों के साथ आपसी सम्बन्ध और इन दोनों रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध सम्पूर्ण समुदाय के नैतिक-सामाजिक-आर्थिक जीवन का बहुत ही सुव्यवस्थित आदर्श उपस्थित करते थे।

आज वर्ण-व्यवस्था की वह दुर्गति हो गयी है कि शायद ही थोड़े लोग इसका समर्थन करें। फिर भी इसके मूल में विद्यमान दो मूलभूत तथ्य विचारणीय है। पहली बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ, क्षमताएँ और योग्यताएँ भिन्न होती है। अतः उसे इनके आधार पर अपना जीवन विकसित करने की सुविधा मिलनी चाहिए। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक विचारक इनके आधार पर ही समाज के पुनस्संघटन की बात सोचता है। दूसरे तथ्य की बात वे लोग उठाते है, जो कृत्यात्मक लोकतंत्र, श्रैणिक समाजवाद, बहुलतावादी राज्य और व्यवसायात्मक सहयोग में विश्वास करते हैं।

यदि हमारी वर्तमान राजनीतिक प्रणाली को ठोस आधार प्रदान करना हो, यदि भारतीयता से उसे प्रेरणा प्राप्त करानी हो और यदि भारतीय समाज को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान कर जीवित रखना हो, तो इसके लिए हमें अतीत की उपरिलिखित भारतीय समाज-व्यवस्था अपनानी पड़ेगी तथा स्वाधिकारप्राप्त और अपने ही ढंग से विकासशील सामाजिक जीवन की वह पद्धति ग्रहण करनी होगी, जिसमें रोजगार-धंधे एवं लोगों के कार्य-व्यापार सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से परिचालित होते हैं।

इस प्रश्न का सम्बन्ध किसी संवैधानिक स्वरूप अथवा राजनीतिक प्रणाली से नहीं है। यह विशुद्ध रूप से सर्जनात्मक समस्या है। यहाँ प्रश्न है, एक अत्यन्त समुन्नत प्राचीन देश के अपने विस्मृत स्वरूप को पुनः पहचानने का।

: ४ :

आज गाँवों की पुरातन सामाजिक व्यवस्था नामभर को रह गयी है। अब ये सामुदायिक संघटन एक प्रकार से निर्जीव हो गये है। न उनमें सक्रियता रह गयी है, न सहयोग का भाव और न समाज के नैतिक-भौतिक विकास के लिए मिलकर काम करने की क्षमता एवं योग्यता ही। इनके पतन के कारणों की मीमांसा करने से कोई लाभ नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि उनकी विशेषताओं से अनभिज्ञ विदेशी सरकार ने जान-बूझकर इन्हें नष्ट कर दिया, क्योंकि इनके विद्यमान रहते वह अपने को अरक्षित समझती थी। फिर भी गाँवों का अस्तित्व आज तक है। अतः इस नींव पर हम पुराने नकशे का नया भवन खड़ा कर सकते हैं। लेकिन लगता है कि हम सही रास्ते पर चलना नहीं चाहते। ग्राम-पंचायतों का संघटन अवश्य किया जा रहा है और उनके लिए बड़ा आग्रह भी है, परन्तु उसका ढंग विदेशी है। आज गाँवों की जो अवस्था है, उनके जारी रहते सामुदायिक जीवन की भावना के विकास का सारा प्रयत्न इसलिए निष्फल

हो जायगा कि कार्य की पद्धति ही दोषपूर्ण है। बल्कि हम तो यह कहेंगे, इससे समाज और खण्ड-खण्ड हो जायगा। इस प्रश्न पर मैं इस प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करूँगा।

: ५ :

इस प्रसंग पर विचार करते समय धर्म का बड़ा भारी प्रश्न उठ खड़ा होता है। भारतीय राज्य-व्यवस्था के अनुसार राज्य की नियंत्रक शक्ति धर्म है। अत. राज्य का यह कर्तव्य है कि वह धर्म की रक्षा करे।

प्राचीन भारतीय समाज में धर्मविषयक भावना बड़ी प्रबल थी। धर्म प्रत्येक क्षेत्र और दिशा में व्यक्ति और समाज के जीवन का नियमन और नियंत्रण करता था।

डाक्टर धवन ने इस प्रश्न पर भलीभाँति विचार किया है। आप कहते है: जर्मन (Sittlichkeit) से मिलते-जुलते धर्म शब्द से अभिप्राय मत-विशेष से नहीं, अपितु सांस्कृतिक और अनुशासित जीवन से है। व्यक्ति-की अन्तःप्रेरणा द्वारा प्रेरित नैतिकताविषयक मान्यताओ से इसका कोई सम्बन्ध न होने से यह व्यक्ति-निष्ठ तो है ही नही, राज्य के किसी विधान द्वारा जारी न होने के कारण यह बाह्यरूपात्मक भी नहीं है। धर्म को हम तर्कहीन नियमों का संग्रह भी नही कह सकते। यह वस्तुतः वह जीवित भावना है, जो समाज के साथ बढ़ती और विकसित होती रहती है। धर्म का कार्य है, समाज की व्यवस्था को निश्चित विधान में बाँधे रखना और व्यक्ति का मार्गदर्शन करना, जिसमें वह अपनी योग्यता और क्षमता पहचान सके।[1]

डाक्टर अल्तेकर लिखते हैं: प्राचीनकाल में यूनान की ही भाँति भारत में भी विधानों (धर्म-नियमो) के उद्गम में पवित्रता का भाव आरोपित था। किन्तु यहाँ इसका आधार रीति-रिवाज थे।·····भारत में धर्म का विधान विधान-निर्माताओं या किसी व्यवस्थापिका-सभा ने नहीं किया था। राज्यशक्ति के दबाव से नहीं, वरन् समाज की मान्यताओं और नरक के भय से इसका प्रचलन हुआ था। यह स्थिर नहीं, गत्यात्मक था, जो किसी राजा की इच्छामात्र या विधान-सभा के कोलाहल से नहीं, समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों, रिवाजों और आचार-व्यवहारों से क्रमशः विकसित होता गया।[2]

---

१. गोपीनाथ धवन : पोलिटिकल फिलासोफी आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ २८७-८८, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, १९५७।

२. डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर : स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन ऐंशियण्ट इंडिया, पृष्ठ २६०-६१।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, यही धर्म प्राचीन काल में भारत में राज्य का नियंत्रण (पथ-निर्देशन) करता था।

देखिये डाक्टर अल्तेकर क्या कहते ह : धर्म राजाओं के भी सिर पर था। राजा भी उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे। धर्म-भावना की इस प्रधानता और प्रमुखता का ही यह परिणाम था कि राजाओं को सिंहासनारूढ़ कराने के पूर्व तीन-तीन बार धर्मदण्ड से स्पर्श कराया जाता था। यह धर्म ही राजाओं को कर्तव्यपरायण (धृतव्रत) जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करता था। राजाओं के कर्तव्य की संज्ञा राजधर्म थी।[1]

श्री अरविन्द लिखते हैं: जहाँ तक संवैधानिक सिद्धान्तों और सामान्य व्यवहारों का प्रश्न है, राजा के सभी कार्य वस्तुतः मंत्रियों की सहायता से निष्पन्न होते थे और स्वतंत्र रूप से राजा द्वारा किये गये कार्यो की भी मंत्रियों द्वारा सम्पुष्टि आवश्यक थी। तभी वे कार्य वैध माने जाते थे। किन्तु इसके साथ यह भी था कि राजा के ये कार्य धर्मविहित हो, धर्म द्वारा मान्यताप्राप्त हों। (चिह्नित अंश लेखक के)।······ विधान (धर्म) के कारण ही जनता राजा का अनुशासन मानती थी और सपरिषद् राजा द्वारा दिये गये आदेशो का पालन इसीलिए करती थी कि वह समझती थी कि धर्म की सेवा और रक्षा के उद्देश्य से ही यह कार्य शासन की ओर से किया गया है।[2]

यह बात ध्यान में रखने की है कि धर्मकी सत्ता राजसत्ता के ऊपर होने का यह मतलब नहीं है कि राज्य धर्म-तंत्रात्मक या सम्प्रदाय-विशेष के आधार पर शासित होने लगा। डाक्टर अल्तेकर कहते है : इसमें सन्देह नहीं कि राजा धर्म का रक्षक और धर्माचरण का प्रेरक समझा जाता था, किन्तु जैसा कि हम दिखा चुके है, इससे राज्य का स्वरूप धर्म-तंत्रात्मक नहीं हुआ। उसका कर्तव्य सभी सम्प्रदायों और धर्मो को समान संरक्षण प्रदान कर जनता में सदाचरण का भाव और धार्मिक वृत्ति उत्पन्न कराना था तथा समाज द्वारा मान्य परम्परागत नियमों को जनजीवन में प्रवृत्त करना था। धर्ममहामात्र और विनयस्थितिस्थापक के रूप में वह ये कार्य करता था। धर्म अथवा सम्प्रदाय-विशेष के उन्नायक, हितसाधक और आदेश-पालनकर्ता के रूप में राजा कभी कार्य नहीं करता था। प्राचीन भारत के लम्बे इतिहास में कदाचित् ही कभी बौद्ध अथवा जैनधर्म के विरुद्ध किसी हिन्दू-राज्य के अभियान का उदाहरण मिले।[3]

१. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ ५६।

२. श्री अरविन्द : वही, पृष्ठ ४०२-३।

३. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ ५५।

समाज पर धर्म का अंकुश इतना प्रबल था कि जब परवर्ती काल में राजा विष्णु का अवतार माना जाने लगा, तब भी उसे 'निर्भ्रान्ति अथवा दैवी इच्छा का एकमात्र भाष्यकार कभी नहीं स्वीकार किया गया । विधान को यद्यपि दैवी मान्यता प्राप्त थी, तथापि उसका आधार सामाजिक रीति-रिवाज और परम्परा ही था । इन रीति-रिवाजों और परम्पराओं को प्रचलित करने तथा समाज द्वारा इनके कार्यान्वियन की देख-रेख का अधिकार राज्य को अवश्य प्राप्त था । किन्तु इतने से ही वह सम्प्रदायों अथवा उनके आचार्यों के हाथ की कठपुतली कभी नही बना । इसके विपरीत वह सार्वजनिक (सामाजिक) विचारों (इच्छाओं) का मुख्य प्रवक्ता बना रहा ।'[1]

लेकिन अभी यह चित्र अधूरा है । इसका पूरा रूप सामने आने पर दिखायी देगा कि 'यद्यपि धर्म राजा के भी ऊपर था और राजा उससे बँधा था, फिर भी प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा कोई संवैधानिक साधन या अवरोध नहीं था, जो राजा को विधान का उल्लंघन करने से रोक सके या उल्लंघन करने की स्थिति में उसे दंडित कर सके ।'[2] यद्यपि विधानानुसार राजा दण्डित किया जा सकता था और 'असह्य स्थिति में तो विद्रोह और राजहत्या तक का सुझाव दिया गया है, तथापि ये सब सुझाव अव्यवहार्य थे । ग्राम-परिषदों और नगर-निगमों को सामान्यतया अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी, तथा सामाजिक या राजकीय न्यायालय साधारणतया जाति-धर्म, श्रेणी-धर्म और जानपद-धर्म द्वारा स्वीकृत परम्परागत विधानो के अनुसार न्याय की व्यवस्था करते थे । फिर भी स्वेच्छाचारी राजा इन सबकी उपेक्षाकर मनमाने ढंग से शासन कर सकता था, जैसा कि कश्मीर के मध्यकालिक इतिहास के सम्बन्ध में राजतरंगिणी के विवरणों से पता चलता है ।

ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण सत्ता राजा में निहित हो गयी और राजा की इस सत्ता पर आधुनिक ढंग का कोई नियंत्रण नहीं रहा । वैसे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं यूरोप में ये नियंत्रण धर्म-सुधार-आन्दोलन के परवर्ती काल में विकसित होते गये ।'[3]

मेरा खयाल है कि किसी प्रकार के संवैधानिक नियंत्रण का अभाव ऐसा बड़ा दोष नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानने लगे है । यदि मनुष्य में नैतिकता का भाव हो और समाज को इस भाव का आधार ग्राह्य हो, तो स्वयं

---

१. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ ५५ ।
२. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ ६२ ।
३. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ ६३ ।

नैतिक विधान और सामाजिक नीति की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि उनके प्रचलित हो जाने का भरोसा किया जा सकता है।

: ६ :

ऊपर जिस धर्म-भावना और भारतीय राज्य-व्यवस्था एवं व्यापक सामाजिक जीवन में उसके महत्त्व पर विचार किया गया है, वह समन्वित, सुव्यवस्थित और सामुदायिक संघटनात्मक भारतीय समाज का एक अन्य उदाहरण है। क्षेत्रीय (प्रादेशिक) अथवा कार्य-व्यवस्थामूलक समुदायों ने अपने समुदायों एवं यूथों के सदस्यों के जीवन तथा व्यवहारों का नियमन करने तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ आपसी सम्बन्धों के लिए विधानों और नियमों का विकास किया था। इनके अतिरिक्त और भी नियम तथा विधान थे, जो समाज के सभी वर्गों को मान्य थे। इनका स्वरूप सार्वजनिक सामाजिक नीति का था। जैसा कि मैं ऊपर दिखा चुका हूँ, इन सामाजिक नीति-नियमों का समष्टि रूप से राज्य पर बड़ा भारी प्रभाव था।

सामुदायिक जीवन आज पूर्णतः नष्ट हो गया है। फलतः धर्म के मूल को जीवित रख सकनेवाला आधार भी समाप्त हो गया है। ऐसी अवस्था में धर्म का पतन हो जाने से न केवल भारत की वर्तमान राज्य-व्यवस्था पर, जो मूलतः विदेशी और भारतीयता से शून्य है, वरन् वाणिज्य, शिक्षा, श्रम, प्रशासन, पौरोहित्य आदि पर भी उसका कोई प्रभाव न रह गया।

धर्म-भावना के कारण आत्म-नियंत्रित और सुसंघटित जिस प्रकार के समाज की स्थापना पुरातन काल में हो सकी थी, वैसे समाज या सामाजिक व्यवस्था की पुनःस्थापना तब तक संभव नहीं है, जब तक कि हमारे देश के निवासियों का जीवन फिर से उसी ढंग के स्वाधिकारप्राप्त (Self-determining) और परस्पर सहयोगात्मक तथा संघवृत्त्यात्मक (integrating) समुदायों का संघटन नहीं होता। ऐसी अवस्था न उत्पन्न होने तक लोकतंत्र जन-जीवन से दूर ही रहेगा। विनोबाजी इधर अपने प्रवचनों में बराबर ग्राम-धर्म की चर्चा कर रहे हैं। लेकिन, जैसा कि वे स्वयं कहा करते हैं, ग्राम-धर्म का उदय तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि ग्राम को समुदाय का रूप नहीं प्राप्त होता। उसी अवस्था में गाँवों के लिए यह सम्भव होगा कि वे अपने सभी निवासियों का कल्याण अपना धर्म समझें, जिसमें गाँव का एक भी निवासी अन्न, वस्त्र, आवास और धंधे के बिना न रह जाय, कोई बच्चा निरक्षर न रह जाय, स्वास्थ्यसम्बन्धी अल्पतम [साथ ही आवश्यक] सेवाओं की सुविधा से कोई वंचित न रह जाय।

धर्म की प्राचीन भावना पुनरुज्जीवित करनी होगी और लोकतंत्र के लिए उपयुक्त धर्म का विकास करना होगा। और पहले की ही भाँति यह

कार्य न तो विधान-निर्माण की किसी प्रक्रिया से और न काशी के पंडितों की व्यवस्था से होगा। यह कार्य सुव्यवस्थित ढंग से ही हो सकता है। धर्म का उदय स्वयं जीवन से होना चाहिए—वह जीवन जो इतना सजीव हो, इतना वास्तविक हो और इतना सुव्यवस्थित हो कि अपने आन्तरिक नियमन के लिए नियम और कानूनो का भी बन्धन त्याग सके। इधर जिस सामाजिक प्रणाली का विकास हुआ है, उससे लाभ उठा लेने में तो कोई हर्ज नही, किन्तु सामाजिक जीवन का आधार शुद्ध रूप से भारतीयता की भावना से युक्त होना चाहिए।

◆◆◆

तीसरा अध्याय

भारत के ग्राम-समुदाय

प्राचीन भारतीय ग्रामों की सामुदायिक व्यवस्था के सम्बन्ध में वैसे तो प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, किन्तु मुख्य प्रश्नो पर सामान्यतया सभी विद्वानों में मतैक्य है। इसलिए यहाँ इस विषय में डाक्टर अल्तेकर की पुस्तक 'स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन ऐंशियेंट इंडिया' के आधार पर ही कुछ चर्चा की जा रही है। जब तक कि अलग से उल्लेख न हो, इस अध्याय में दिये गये सारे उद्धरण और पृष्ठसंख्या-निर्देश डाक्टर अल्तेकर की उपर्युक्त पुस्तक के ही समझे जाने चाहिए।

"अति प्राचीनकाल से ही भारत में प्रशासन की धुरी गाँव रहे है।···· इसमें सन्देह नहीं कि गाँव ही सामाजिक जीवन के केन्द्रबिन्दु और देश की अर्थ-व्यवस्था के प्रधान इकाई थे। राष्ट्रीय संस्कृति, समृद्धि और प्रशासन का भव्य भवन इन्हीं पर खड़ा था, इनसे ही इनको संबल प्राप्त होता था।" (पृष्ठ २२५)।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल की सरल, अनौपचारिक व्यवस्था चलते-चलते गुप्त-शासन-काल तक जटिल और औपचारिक हो गयी। चोल राजाओं के शिलालेखों के कारण दक्षिण भारत की स्थिति पर उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक प्रकाश पड़ता है। फिर भी विद्वानों का मत है कि देश के दोनों भागों की अवस्था में विशेष अन्तर नहीं था।

प्राचीनकाल में गाँवों की व्यवस्था का संचालन समूचे गाँव की महा-सभा (वेदकालिक सभा) करती थी। इस महासभा की बैठक में भाग लेने का अधिकार प्रत्येक गृहपति को था और नगाड़ा बजाकर लोगों को इसकी बैठक के समय आमंत्रित किया जाता था। आगे चलकर जब व्यवस्था अपेक्षाकृत जटिल होती गयी और काम बढ़ता गया,तो निर्वाचित ग्राम-परिषदों का रूप सामने आया, जिन्हें गुप्त-शासन-काल में अथवा उत्तर गुप्त-काल में मध्यभारत में महामंडली, बिहार में ग्राम-जनपद, राजपूताना में पंचकुल और तमिलनाड में आलंगनम् आदि नामों से अभिहित किया जाने लगा। इन्हींकी संज्ञा बाद में ग्राम-पंचायत हो गयी। दक्षिण भारत के बड़े और अपेक्षाकृत अधिक संघटित गाँवों की प्रशासन-व्यवस्था निर्वाचित उप-समितियों द्वारा संचालित होती थी। आज भी चिंगलपेट जिले में उत्तर पुलुर नाम का एक गाँव है, जिसकी प्रशासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। पहले इस गाँव का नाम उत्तर मेरूर था। भले ही कुछ विस्तरा

हो जाय, किन्तु इस गाँव की प्रशासन-व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण मै यहाँ देना आवश्यक समझता हूँ, क्योकि इससे प्राचीनकाल के गाँवों के सामुदायिक संघटनों की सक्रियता और सजीवता का स्पष्ट आभास मिलता है।

"इस गाँव का प्रशासन [ग्राम,] -सभा की पाँच उपसमितियो द्वारा संचालित होता था। इनके सभी सदस्य अवैतनिक थे और इनका कार्यकाल एक वर्ष का होता था। आचरण की भ्रष्टता का प्रमाण मिलने पर ये निर्धारित अवधि के पूर्व भी हटाये जा सकते थे। ऐसा माना जाता था कि गाँव के सभी अनुभवी और योग्य निवासियों को इन समितियो मे काम करने का अवसर मिलना चाहिए। इसीलिए यह नियम बना दिया गया था कि कोई भी व्यक्ति तीन वर्ष के बाद ही किसी उपसमिति मे फिर से आ सकता है। दुराचारी तथा सार्वजनिक कोष में गड़बड़ी करनेवाले या उनके सम्बन्धी इन समितियों के सदस्य नही हो सकते थे। सम्बन्धियों पर रोक लगाने का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि सार्वजनिक कोष में गड़बड़ी करने-वालो के विरुद्ध जनमत और उग्र हो सके। समितियो के सदस्य न तो अल्पवयस्क हो सकते थे, न अतिवयस्क; उनकी अल्पतम और अधिकतम वय-सीमा क्रमशः ३५ और ७० वर्ष निर्धारित थी। इनके अतिरिक्त और भी योग्यताएँ (अर्हताएँ) अपेक्षित थीं। समितियों के प्रत्याशियो (उम्मीदवारों) के लिए यह आवश्यक था कि उनके पास कम-से-कम चौथाई वेली (प्रायः २ एकड) करद भूमि हो। ऐसा माना जाता था कि सार्वजनिक कोष की व्यवस्था करनेवालो को भुक्खड़ (आवश्यकता-ग्रस्त) नही होना चाहिए। लेकिन सम्पत्तिविषयक अर्हता वेदज्ञों, स्मृतिज्ञों अथवा भाष्य-विदों (तत्त्ववेत्ताओं) के मामले मे घटाकर आधी कर दी गयी थी। यह स्वाभाविक था कि अग्रहार समुदाय (समाज) (ब्राह्मणो का गाँव) इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि विभिन्न ग्राम-समितियां के लिए चुने जाने-वाले उसके प्रतिनिधि यथासभव अच्छे विद्वान्, सच्चरित्र और सदाचारी व्यक्ति हों। यह ध्यान देने की बात है कि सरकारी कर्मचारी इन समितियों के सदस्य नहीं हो सकते थे। (पृष्ठ २३१-३२)।

पाँचों उपसमितियों के कार्य बँटे हुए थे। पहली समिति के जिम्मे गाँव के बगीचों और उद्यानों की देखभाल का काम था। दूसरी का सम्बन्ध जलाशयों और जल-वितरण से था। तीसरी समिति विवादों का निपटारा करती थी। चौथी समिति 'स्वर्ण-समिति' थी। उसका काम था, निष्पक्ष भाव से सबके लिए स्वर्ण का मूल्य-निर्धारण।····राज्य की ओर से किसी प्रकार के प्रामाणिक सिक्के का प्रचलन न होने से कर के रूप में अथवा किसी सामग्री के मूल्य के रूप में सोना दिये जाने पर उसका मूल्य-निर्धारण या उसकी शुद्धता का प्रमाण आवश्यक था। इस उपसमिति के सदस्यों के निर्वाचन के सिलसिले में विशेष प्रक्रिया का विधान किया गया था। पाँचवीं

उपसमिति पंचवार-समिति कही जाती थी, किन्तु इसके कार्यों का विवरण उपलब्ध नहीं है।" (पृष्ठ २३३-३४)।

"इन पाँचों उपसमितियों के अतिरिक्त एक निरीक्षण-महासमिति थी, जिसे संवत्सर या वरीयान् समिति कहते थे। केवल ऐसे अनुभवी वयस्क लोग इसके सदस्य हो सकते थे, जो अन्य समितियों में रह चुके हों।" (पृष्ठ २३४)। प्रतीत होता है कि उत्तर मेरूर गाँव का प्रशासन अत्यन्त उन्नत लोकतांत्रिक प्रणाली से होता था। किन्तु इस प्रकार का यह अकेला गाँव नहीं था। इतना ही है कि इस गाँव के सम्बन्ध में अधिक और प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हैं।

और विवरणों से पता चलता है कि भूमि-सर्वेक्षण-समिति, मन्दिर-समिति तथा अन्य कई प्रकार की समितियाँ भी थी। "कतिपय अग्रहार गाँवो में महाविद्यालय तक थे। लगता है कि उनमें शिक्षण-समितियाँ भी थीं।" (पृष्ठ २३४)।

उपसमितियो के माध्यम से ही प्रशासन ग्राम-शासन का सामान्य रूप नहीं था। साधारणतया गाँवों का प्रशासन ग्राम-परिषदों द्वारा होता था।

ग्राम-परिषदों के कार्यो का भी संक्षेप में लेखा-जोखा कर लिया जाय। लगता है कि समुदाय के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले सभी कार्यो के बारे में उन्हें विविध और व्यापक अधिकार प्राप्त थे। भूराजस्व का संग्रह उनका मुख्य कार्य था। दुर्भिक्ष अथवा अन्य दैवी विपत्तियों के समय सरकार से सुविधाओं के बारे में वार्ता चलाने का काम ये परिषदें ही करती थीं। भूराजस्व का 'बन्दोबस्त' हो जाने पर ये परिषदें ही उसका संग्रह करती थी और जिन किसानों के जिम्मे पावना अधिक बाकी पड़ जाता था, उनकी भूमि नीलाम कर देने तक काम ये ही करती थीं। गाँवों की बंजर भूमि अथवा सम्मिलित सम्पत्ति पर इन्हींका स्वामित्व होता था। विवादों का निर्णय इनका सबसे मुख्य कार्य था। पहले ये विवाद परिवार के बड़े-बूढ़ों के पास या वादियों से सम्बद्ध श्रेणियों के पास जाते थे। यदि वे असमर्थ होते थे, तो उनका निर्णय ग्राम-परिषद् करती थी। गुरुतर अपराध तो इनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर थे, किन्तु दीवानी के सभी मामले निपटाने का इन्हें अधिकार था।

कुछ पूर्वकालिक लेखकों के इस मत का डाक्टर अल्तेकर ने खंडन किया है कि ग्राम-परिषदों के न्यायसम्बन्धी अधिकार अस्थिर राजनीतिक परि-स्थितियों से प्रभावित होते रहते थे। आपका कहना है कि स्मृतियों, शिलालेखों और महाराष्ट्र में प्राप्त विवरणों से इस मत का खण्डन होता है। स्मृतियों में कहा गया है कि राज्य को ग्राम-परिषदों के निर्णय अवश्य ही कार्यान्वित करने चाहिए। मराठा-शासन-काल के जो विवरण मिलते हैं,

उनमें साफ कहा गया है कि शिवाजी, राजाराम और शाहू आदि वे सभी मुकदमे ग्राम-पंचायतों के पास भेज देते थे, जो सीधे उनके पास आते थे। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह से सम्बद्ध एवं रोचक उदाहरण इस सम्बन्ध में डाक्टर अल्तेकर ने दिया है। आप लिखते है · मसूर के ग्राम-प्रधान-पद से सम्बद्ध एक विवाद का निर्णय मसूर-पंचायत ने बायाजी मुसलमान नामक एक व्यक्ति के विरुद्ध किया। अपील करने पर करड़की तहसील (तालुका)-पंचायत ने वह निर्णय बहाल रखा। बायाजी मुसलमान ने तब इस शिकायत के साथ सुल्तान अली आदिलशाह के यहाँ मामले की अपील की कि साम्प्रदायिक भावना के कारण मेरे साथ न्याय नहीं किया गया है। सुल्तान ने इस मामले पर राज-दरबार में विचार करना तो अस्वीकार कर दिया, यह आदेश भी दिया कि पैठन की हिन्दू-पंचायत इस पर विचार करे। जब इस पंचायत ने भी अपील मंजूर नही की, तो सुल्तान ने मामले में हस्तक्षेप करना अस्वीकार कर दिया। (पृष्ठ २३७-३८)।

और प्राचीन काल के सम्बन्ध में डाक्टर अल्तेकर लिखते है: हम इस निष्कर्ष पर भलीभाँति पहुँच सकते है कि याज्ञवल्क्य ने जिन ग्राम-न्यायालयों को 'पूग' कहा है, वे ईसा-पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी में उसी प्रकार वर्तमान थे, जिस प्रकार ईसवी सन् आरम्भ होने के बाद कई शताब्दियों तक। (पृष्ठ २३८)।

ग्राम-शासन-पालिकाओं के कार्यो के सम्बन्ध में डाक्टर अल्तेकर लिखते हैं: दक्षिण भारत के शिलालेखो से प्रकट होता है कि ग्राम-परिषदें महाजनी (साहूकारी) का भी काम करती थीं। (पृष्ठ २३८)।

चोल-राजाओं के शासन-विवरण देखने से पता चलता है कि दुर्भिक्ष के समय ग्राम-परिषदें सम्मिलित भूमि बन्धक रखकर सार्वजनिक ऋण की भी उगाही करती थी।

ग्राम-परिपदें तालाबों, कुओं, नहरों, सड़कों, वनों और बंजर भूमि की व्यवस्थाकर सार्वजनिक हित के काम भी सम्पन्न किया करती थीं।

ये परिषदें अध्येताओ के लिए वृत्तियों की व्यवस्था कर तथा विद्यालयों, महाविद्यालयों की स्थापना कर सांस्कृतिक एवं बौद्धिक समुन्नयन के कार्य भी सम्पन्न किया करती थीं।

विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि अपनी रक्षा के लिए गाँव अपनी ओर से सैन्य-दलों का भी संघटन करते थे।

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि गाँवों को अपने लिए संविधान बनाकर उसीके अनुसार चलना चाहिए। प्राचीन भारत के गाँवों की व्यवस्था का ठीक यही रूप था।

डाक्टर अल्तेकर लिखते हैं : प्राचीन भारत में अधिकांश राजवंशों का शासन-काल प्रायः दो शताब्दियों तक रहा। इसके विपरीत ग्राम-समुदाय और ग्राम-परिषदें बहुत ही प्राचीनकाल से चली आ रही थीं। इनकी शक्ति और अधिकार का स्रोत केन्द्रीय शासन द्वारा स्वीकृत कोई अधिकार-पत्र नहीं, वरन् सैकड़ों-हजारों वर्षो से चले आ रहे रीति-रिवाज थे। (पृष्ठ २४२)। आगे देखिये : उस समय के विवरण देखने से प्रकट होता है कि सामान्यतया केन्द्रीय शासन नहीं, गाँवों की प्रारम्भिक [महा] -सभाएँ ही अपनी विभिन्न समितियों के लिए संविधान बनाती थीं। उत्तर भारत में भी कदाचित् यही व्यवस्था प्रचलित थी। ····किसी प्रकार का संविधान बनाने का अवसर केन्द्रीय शासन को शायद ही मिला हो। (पृष्ठ २४३)।

विशेषतया दक्षिण भारत के सम्बन्ध में डाक्टर अल्तेकर लिखते हैं : साधारणतया प्रत्येक सभा अपने संविधान की निर्मात्री थी। प्राचीनतम उपलब्ध संविधान माननलायनल्लूर की महासभा का है। इसका निर्माण नगाड़ा बजाकर आमंत्रित ग्राम-निवासियो की महासभा मे ही हुआ था। जब संशोधन आवश्यक होते थे, तो सभा स्वयं इन्हें कर लेती थी। (पृष्ठ २३३)।

अब प्रश्न उठता है, ग्राम-परिषदों और उनकी विभिन्न समितियों के सदस्यों के निर्वाचन अथवा चयन का। निर्वाचन से आजकल जिस अर्थ का बोध होता है, वह उस समय प्रचलित न था। ऐसा लगता है कि ग्राम-समुदाय स्वभावतः ही ऐसी कार्य-प्रणाली से बचना चाहते थे, जिससे मत-विभाजन की स्थिति आये। कार्य-पालिकाओं और उनकी उपसमितियों के सदस्यों का चयन ऐकमत्य (सम्मति की एकात्मता) से होता था और इसके लिए गाँव की महासभा में सब निवासी एकत्र होते थे। कभी-कभी निश्चित प्रणाली द्वारा गोटी डालकर सदस्यों का चयन किया जाता था।

डाक्टर अल्तेकर लिखते है : ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिससे कहा जा सके कि दलीय राग-द्वेष को जन्म देनेवाली आधुनिक ढंग की निर्वाचन-प्रणाली कहीं प्रचलित थी। सम्मान्य गृहपतियों की आमसभा द्वारा सबकी सहमति से लोगों का चयन परिषद् के लिए किया जाता था। परिषद् के सदस्यों के चयन में जात-पाँत की भावना के लिए कहीं स्थान नहीं था। गुप्त-काल में कितने ही पार्षद ब्राह्मणेतर जातियों के भी थे। मराठा-काल में कई पंचायतों के निर्णयों पर ब्राह्मणेतर जातियों के ही नहीं, अन्त्यजों के भी हस्ताक्षर मिलते हैं। (पृष्ठ २३५)। तमिलनाड के अग्रहार गाँवों में कार्य-पालिकाओं के सदस्यों का चुनाव साधारणतया गोटी डालकर होता था। अन्य स्थानों पर प्रमुख ग्राम-निवासियों द्वारा कदाचित् पहले से ही नामों पर विचार कर लिया जाता था और जब यह समझ लिया जाता

था कि ये नाम सामान्यतया सभीको स्वीकार्य है, तो प्रारम्भिक सभाओं में औपचारिक ढंग से उनका प्रस्ताव कर दिया जाता था और वहाँ इनको स्वीकृति मिल जाती थी। इस बात की बहुत कम गुंजाइश थी कि आज के ढंग का मतदान उस समय होता। (पृष्ठ २४१)।

गोटी डालकर सदस्यो का चयन किस प्रकार होता था, इसका भी हाल सुनिये : उत्तर मेरूर में विभिन्न उपसमितियों के लिए सदस्यों का चयन गोटी डालकर किया गया। गाँव के तीसों वार्डों में से प्रत्येक वार्ड के लिए कई-कई नामजदगी के पर्चे दाखिल किये गये। प्रत्येक प्रत्याशी का नाम एक अलग कागज पर दर्ज किया गया। इसके बाद ये सभी कागज वार्ड-वार्ड से एक बर्तन में डाल दिये जाते थे। फिर एक अबोध बालक को बुलाकर उससे कोई एक कागज उठा लेने के लिए कहा जाता था। जिस आदमी के नाम का कागज निकलता था, वह उस वार्ड के लिए निर्वाचित घोषित कर दिया जाता था। यही विधि सब वार्डों के लिए काम में लायी जाती थी। इस प्रकार दलगत राजनीति और प्रचार के लिए कोई गुजाइश न थी। (पृष्ठ २३३)।

यह अध्याय समाप्त करने के पूर्व मै डाक्टर अल्तेकर के ये शब्द उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ : इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्राम-सभाओ और उनकी परिषदो पर केन्द्रीय सरकार का कार्य निरीक्षणात्मक और नियंत्रणात्मक ही था। केन्द्र शासन-संचालन का कार्य इन परिषदों पर ही छोड़ देता था और इन्हें व्यापक अधिकार प्राप्त थे। ये परिषदे ग्राम-समुदाय की सुरक्षा के लिए सुचारु व्यवस्था करती थीं, केन्द्रीय शासन की ओर से कर वसूल करती थीं और स्वयं अपनी ओर से कर लगाती थी, गाँव के झगडों का निबटारा करती थी, जनहितकारी और आमोद-प्रमोद के कार्यो की व्यवस्था करती थीं, न्यास-अधिकारी और साहूकार के रूप में कार्य करती थी, दुर्भिक्ष के संकट का सामना करने के लिए सार्वजनिक ऋण उगाहती थी, विद्यालयों, महाविद्यालयों, दरिद्रालयों की व्यवस्था करती थीं और उनके लिए रुपयों का प्रबन्ध करती थीं तथा मन्दिरों की ओर से किये जानेवाले अनेकानेक धार्मिक-सांस्कृतिक कार्यों की देखभाल करती थीं। इसमे सदेह नहीं कि आज अधिकाश पूर्वी और पश्चिमी देशों में स्थानीय निकायों को जितने अधिकार प्राप्त हैं, उनसे कहीं अधिक अधिकार इन्हें प्राप्त थे। (चिह्नित अंश लेखक के)। ग्राम-निवासियों के हितों के संरक्षण तथा उनकी नैतिक, भौतिक एवं बौद्धिक समुन्नति के कार्यो के सम्पादन में इनका महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय योगदान रहा करता था। (पृष्ठ २४३-४४)।

ग्राम-समुदायों के सम्बन्ध में इतनी विस्तृत चर्चा मैने इसीलिए की है कि मैं उन्हें भारतीय राज्य-व्यवस्था ही नहीं; सम्पूर्ण भारतीय समाज के

पुनरुज्जीवन का मुख्य आधार मानता हूँ। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज का शिक्षित-वर्ग भारतीय इतिहास में गाँवो के महत्त्व को समझ और आँक नही पाया है और न भावी व्यवस्था में उनके महत्त्व की कल्पना कर पाता है। हाल ही में देश के एक प्रमुख दैनिक पत्र के एक स्तम्भ-लेखक ने बिना सोचे-समझे यह मत व्यक्त कर दिया कि 'किसी भी हालत में, हमारे ग्राम-निवासियों को हितों की समानता के भाव का बोध कभी नही रहा है और न पारस्परिक दायित्व का भाव उनके मन मे आया है।' (टाइम्स आफ इंडिया, ३१ जुलाई, १९५९ के अंक मे 'आब्जर्वर' का लेख)। मेरे विचार से सामुदायिक-विकास-प्रशासन की यह अनुचित आलोचना है।

कहीं लोग डाक्टर अल्तेकर को अतीत को आदर्श माननेवाला स्वच्छन्दतावादी (प्राचीनतावादी) न करार दें। इसलिए उनके मत के समर्थन में यहाँ मै कुछ विदेशी विद्वानों के मत भी उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि अन्य देशी विद्वानों-जैसे प्रोफेसर राधाकुमुद मुखर्जी, राधाकमल मुखर्जी, डाक्टर बेनीप्रसाद आदि को भी—लोग डाक्टर अल्तेकर की ही श्रेणी में रख दे सकते है। श्री श्रीमन्नारायण ने अपने 'गान्धीयन कांस्टीट्यूशन' के पृष्ठ ४६–४७ पर कतिपय यूरोपीय विद्वानों की रचनाओं से उद्धरण दिये हैं। यहाँ मैं उसी पुस्तक के उद्धरण दे रहा हूँ।

सर चार्ल्स ट्रेवलीन लिखते हैं: एक के बाद एक विदेशी आक्रमणकारी भारत में आते और जमते रहे, किन्तु कुश की भाँति ग्राम-पालिका-समितियाँ अपने स्थान पर डटी रहीं।[1]

सर जार्ज बर्डउड ने लिखा है: संसार के किसी भी देश में भारत जितनी धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ नहीं हुई है, फिर भी ग्राम-समितियों के कार्यो पर कोई आँच नही आयी। वे समग्र देश में सदा की भाँति एकरस स्थानीय हित के कार्यो में लगी रही। सीथियाई, यूनानी, सरासीन, अफगान, मंगोल और मराठे अपने पार्वत्य निवासों से निकलकर बाहर आये तथा पुर्तगाली, डच, अंग्रेज, फ्रांसीसी और डेन समुद्र-मार्ग से आकर भारत में जमे और शासक बने। किन्तु गाँवों के धार्मिक-व्यापारिक संघटनों का काम यथापूर्व चलता रहा। जैसे ज्वारभाटे का कोई प्रभाव चट्टान पर नहीं पड़ता, वैसे ही इन संघटनों पर आक्रामकों के आगमन-निर्गमन का कोई प्रभाव न पड़ा।

और अब अन्त में तत्कालीन स्थानापन्न गवर्नर जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ द्वारा १८३० में भेजे गये प्रसिद्ध विवरण के ये अंश भी देखिये:

---

१. एस. एन. अग्रवाल: गांधीयन कांस्टीट्यूशन फार फ्री इंडिया, किताबिस्तान।

(भारत के) ग्राम-समुदाय एक प्रकार के छोटे-छोटे गणराज्य ह, जो अपने लिए आवश्यक सभी सामग्री की व्यवस्था कर लेते है तथा किसी प्रकार के बाहरी सम्पर्क से मुक्त है। लगता है कि इनके अधिकारो और प्रबन्धों पर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक के बाद एक राजवंश आता है, क्रांतियो का क्रम चलता रहता है।····किन्तु ग्राम-समुदाय उसी ढर्रे पर चलता जाता है।····मेरे विचार से ग्राम-समुदायों के इस संघ ने, जिसमें प्रत्येक (समुदाय) एक छोटे-मोटे राज्य के ही रूप मे है, अन्य किसी बात की अपेक्षा, अनेकानेक क्रान्तियों के बावजूद, भारतीय जन-समाज को कायम रखने और जनजीवन को विश्रृंखल होने से बचाने में बड़ा भारी काम किया। साथ ही यह जनता को सुखी बनाये रखने और उसे स्वतन्त्र स्थिति का उपभोग कराने का बड़ा भारी साधन है। इसलिए मेरी इच्छा है कि गाँवों की इस व्यवस्था में कभी उलट-फेर न किया जाय। मै उस प्रवृत्ति की बात सुनकर ही दहल जाता हूँ, जो इनकी व्यवस्था भंग करने की सलाह देती है।

मेटकाफ के इस खौफ (Drcad) के बावजूद ब्रिटिश-सरकार स्वतंत्रता और आत्म-निर्भरता के इन केन्द्रों को विनष्ट करने की निर्धारित नीति पर बराबर चलती रही। भारत का पाला पहली बार ऐसे आक्रामक से पड़ा, जिसने यह काम कर दिखाया, जो पहले किसीने नही किया था। इन ग्राम-गणतंत्रों को विनष्टकर ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने इस प्राचीन देश को सबसे अधिक क्षति पहुँचायी। यदि ८० प्रतिशत भारतीयों को आश्रय देनेवाले हमारे गाँवों में 'पौर-प्रशासन का वह पुराना ओज' आज भी कायम रहता, तो सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण मिनटो की बात थी। १८३० को बीते केवल १२९ वर्ष हुए, किन्तु उस गौरवपूर्ण अतीत की धुधली रेखा भी आज निरक्षर ग्रामीणो ही नहीं, सुशिक्षित नर-नारियों के मानस-पटल पर भी नही रह गयी है। हमारी अद्भुत शिक्षा-प्रणाली का यह भी एक परिणाम है।

कुछ लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था कि पौरीकरण (नगरीकरण) के इस युग में भी क्यों गांधीजी का आग्रह बराबर गाँवों के लिए रहता है और क्यों वे 'आत्मनिर्भर, स्वशासित ग्राम-गणतंत्रों' की बात करते नही अघाते। गांधीजी का यह आग्रह इसलिए था कि वे जानते थे कि किसी समय गाँवों की क्या हालत थी। वे चाहते थे कि गाँवों के सजीव, प्रत्यक्ष लोकतंत्र के आधार पर ही उनकी कल्पना का भारतीय लोकतंत्र राज्य कायम हो। दूसरी बात यह कि गांधीजी प्रत्येक बात पर अहिंसा की दृष्टि से विचार करते थे। उन्होंने यह अनुभव किया था कि जिस राष्ट्रीय निर्माण की मैंने कल्पना कर रखी है, उसका आधार गाँवों का स्वशासित, आत्मनिर्भर सहयोगात्मक, सामुदायिक जीवन बहुत ही अच्छी तरह प्रस्तुत करता है।

अर्थ और राज्य-व्यवस्थाविषयक गांधीजी के अपने स्वतन्त्र विचार थे, जिनमें सुदूरस्थ केन्द्र के शोषण और शासन की बहुत ही कम गुजाइश थी। वे मानते थे कि गाँव ही ऐसी इकाइयाँ हो सकती हैं, जिनके आधार पर इस ढंग की अर्थ एवं राज्य-व्यवस्था का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। लेकिन यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि गांधीजी यह नही मानते थे कि आज के अथवा पहले के गाँव मेरी कल्पना के सामाजिक संघटन के केन्द्र बन सकते है। उन्होंने कहा है: अहिंसामूलक सभ्यता के अति निकट तो प्राचीन काल के ग्राम-गणतंत्र ही आते हैं। मै यह मानता हूँ कि उनका यह रूप बहुत ही अपरिष्कृत था, क्योंकि मेरी परिभाषा अथवा कल्पना की अहिंसा का लेश भी इसमें न था। फिर भी इसके कीटाणु (मूल-तत्त्व) इसमें पाये जाते हैं।[१] (चिह्नित अंश लेखक के)।

◆◆◆

---

१. जी. धवन : वही पृष्ठ २८८-८९।

चौथा अध्याय

मानव की सामाजिक प्रकृति और समुदाय

: १ :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसकी प्रकृति भी सामाजिक है। समाज में ही वह पैदा होता, बढता और मरता है। प्रकृत्या वह सामाजिक जीवन की अर्थात् दूसरे मनुष्यों के साथ रहने की कामना करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है, पृथक् व्यक्तित्व होता है; किन्तु इस विशेषता और व्यक्तित्व का बोध तभी हो सकता है, जब कि वह समाज में रहे। कोई मनुष्य एकाकी जीवन नहीं व्यतीत कर सकता और यदि वह ऐसा करता है, तो मानव की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नही रह जाता। ऐसी हालत मे उसे संयोगवशात् प्रकृति की लीला से उत्पन्न मानव भले कह लिया जाय, किन्तु वह मानव-समाज की सीमा के अन्तर्गत नहीं आता; वह मनुष्य ही नहीं है। मनुष्य जाति की उत्पत्ति और विकास का इतिहास बतानेवाले लोग कहा करते हैं कि मनुष्य का आदिरूप बन्दर का था। धीरे-धीरे वह इस रूप में आया है। इसी प्रकार उसकी प्रकृति का भी विकास हुआ है। आज भी यदि कोई मनुष्य उस पुरातन प्रकृति का परिचय देता है, तो उसे भेड़िया नर, बन्दर या इसी प्रकार भी कोई चीज कहा जायगा।

इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध ईंट और मकान का नहीं है। जीवित सेल और जीवित शरीर के बीच जो सम्बन्ध होता है, वही सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के बीच होता है। अन्य मनुष्यों के साथ किसी मनुष्य का सम्बन्ध एकावयविक होता है। सम्बन्धों की इस परिपूर्णता से ही समाज बनता है। पृथक् व्यक्तियों का समूहमात्र समाज नही है; यहाँ तक कि समूह भी मानव प्राणियों का असंघटित योग नहीं कहा जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह नया नहीं है। ध्यान देने की बात केवल यही है कि समाजशास्त्र में जहाँ इसे स्वतः सिद्ध समझा जाता है, वहाँ राजनीति अथवा अर्थशास्त्र में इस प्राथमिक, किन्तु मूलभूत तथ्य की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि यद्यपि राजनीति-शास्त्र (विज्ञान) तथा अर्थशास्त्र (विज्ञान) के शास्त्रीय (वज्ञानिक) होने का दावा किया जाता है, किन्तु इनमें से एक भी

समाजशास्त्र पर आधारित नहीं है। समाजशास्त्र की अपेक्षा राजनीतिक और आर्थिक गतिशीलताएँ काफी पुरानी हैं। राजनीतिक-आर्थिक संघटनों और गतिशीलताओ का किसी-न-किसी रूप में बराबर ही विकास हुआ है। शास्त्र के रूप में राजनीति और अर्थनीति के विवेचन का अभिप्राय यह है कि इन संघटनों और इनकी प्रक्रियाओं—इनकी उत्पत्ति, विकास, इनकी कार्य-पद्धति (विधान) और स्वरूप-परिवर्तन तथा भावी स्थिति की कल्पना—का शास्त्रीय अध्ययन और मीमांसा की जाय।

आइये, मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर फिर से विचार करें। मानव की सामाजिक प्रकृति की प्रथम सृष्टि परिवार था। मानव-समाज के भव्य भवन का प्रवेश-द्वार परिवार है या जैसा कि मदेरियागा का कहना है, समाज की दृष्टि से विचार करने पर परिवार व्यक्ति के लिए मातृवत् है। परिवार में ही मनुष्य जन्म लेता है और बाल्यावस्था तथा जवानी के दिन बिताता है। परिवार की देख-रेख और पालन-पोषण के बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता; मानव बनने की तो बात ही छोड़िये। वय:प्राप्ति-काल में भी परिवार उसके साथ रहता है। उस समय परिवार में ही रहकर वह उसकी रक्षा और सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा सभी प्रकार के काम करता है। परिवार की रक्षा के लिए तो वह तत्पर रहता ही है। उसकी प्रतिष्ठा के लिए जान तक देने को भी तैयार रहता है। परिवार में ही वह सहयोग, पारस्परिक समन्वय (Adjustment) और आत्मत्याग के गुण सीखता है। यहीं उसके चरित्र का निर्माण होता है और वह उस सुविस्तृत समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ अपनाता है, जिसकी एक इकाई उसका परिवार होता है। मदेरियागा ने ठीक ही कहा है : विद्यालय में शिक्षा मिलती है, परिवार सिखाता है।[१]

इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं; बल्कि मदेरियागा के शब्दों में 'सपरिषद् राजा' की भाँति वह 'सपरिजन व्यक्ति' है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज की विवेकसम्मत व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें परिवार का अखंड रूप ही न बना रहे, वरन् उसकी वास्तविक क्रियाशीलता के लिए पूरा अवसर भी प्राप्त हो सके। बल्कि इससे भी आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि प्रबुद्ध और अच्छे समाज के जीवन में उन गुणों और प्रवृत्तियों का समावेश आवश्यक है, जिनसे परिवार का अनुशासन होता है।

परिवार के बाद मनुष्य के लिए स्वाभाविक रूप से जो सामाजिक वातावरण निकटतम पड़ता है, वह है स्थानीय समाज (सामुदायिक संस्था)—ग्राम अथवा नगर-निकाय। मदेरियागा ने इन्हें उचित ही 'परिवारों

१. एस. डी. मदेरियागा : वही, पृष्ठ ४५।

का संघ' कहा है। अकेला एक परिवार सामाजिक इकाई के रूप में बहुत छोटा पड़ता है। इसलिए बहुत-से परिवार मिलकर और सहयोगपूर्वक इस बात की व्यवस्था करते हैं कि प्रत्येक परिवार रहे और फले-फूले। स्थानीय अथवा प्रारम्भिक अर्थात् जिससे रोज काम पड़े, ऐसा समुदाय (सामाजिक संघटन), चाहे गाँवों में हो या नगरों में, किसी देश-विशेष में नहीं, अपितु सारे संसार में सदा से व्याप्त रहते आये हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति ही सामुदायिक है। यह जान लेना हमारे लिए बड़े हर्ष का विषय होगा कि यद्यपि सामुदायिक संघटन सार्वकालिक और संसार-व्यापी रहे हैं, तथापि व्यवस्थित रूप से इनका विकास भारत जैसा और कहीं नहीं हुआ और न इनका इतिहास ही इतना लम्बा रहा है।

अपनी आवश्यकता और माँग की पूर्ति के उद्देश्य से मानव और विस्तृत तथा बड़े संघटनों का विधान स्वभाववशात् ही नहीं कर सका। भारत जैसे संसार के कुछ भागों में पारस्परिक हित-साधन के लिए स्थानीय सामुदायिक संस्थाओं के संघ अवश्य बने, किन्तु उनका रूप बहुत ही प्रारम्भिक था। मनुष्य-स्वभाव के और पहलू तथा अन्य परिस्थितियों के चलते भी इनका विकास नहीं हो सका।[१] किन्तु स्थानीय सामुदायिक संघटन जहाँ मनुष्य की 'सामाजिकता' का कुछ रूप था, कुछ अवसर था, वह तो कम-से-कम सैकड़ों ही क्या, हजारों वर्षों तक रहा। मनुष्य-समाज के इस लम्बे जीवन में केवल एक ही ऐसी घटना घटी, जिसने इस स्थिति में बड़ा भारी और तात्त्विक परिवर्तन कर दिया तथा विकास का सारा क्रम रोक दिया। वह घटना थी, यन्त्र-उद्योग का प्रारम्भ। यन्त्रोद्योग ने मनुष्य को स्थानीय और कृत्यात्मक (श्रैणिक) समुदायों से उखाड़ फेंका और उसे भेड़ की भाँति शहरों में लाकर ठूंस दिया अथवा विशाल जलराशि पर लकड़ी के तिनके की भाँति मारे-मारे फिरने की स्थिति मे लाकर धर दिया। ब्रिटेन के एक विख्यात विद्वान् ने

---

१. यह बात यहाँ उठती है कि क्या मानव-प्रकृतिजन्य जिन सामाजिक संघटनों या संस्थाओं का आविर्भाव हुआ है, उनकी व्यवस्था अथवा स्वयं उन्हें मनुष्य नष्ट कर सकता है; अथवा क्या मानव-प्रकृति का स्वरूप इन अपरिवर्तनशील सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में नहीं आ सकता। यहीं मनुष्य तथा अन्य पशुओं के स्वभाव में हमें अन्तर दिखायी पड़ता है। पशुओं के आचरण का आधार होता है, उनकी अंतःप्रेरणा या सहजबुद्धि। परन्तु मनुष्य के पास मन, इच्छा और चेतना भी होती है, जिनके चलते आचरण या व्यवहार के असीम रूप सामने आते हैं—ऐसे रूप भी, जो उसके स्वभाव के विपरीत पड़ते हैं। पशु अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता, जब कि मनुष्य के लिए यह शक्य है। और इसी कुंजी से मानव के विकास की असीम संभावनाओं का द्वार खुलता है।

इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है : अनियोजित यन्त्रोद्योग की भुल-भुलैया में पैर रखनेवालों का अगुवा ब्रिटेन रहा है। इस उद्योग का परिणाम यह हुआ कि जनता अपने घरों से उन्मूलित होकर [शहरों की] गन्दी बस्तियों में [भेड़ की तरह] भरने लगी। और कालक्रम से इस प्रक्रिया के फलस्वरूप विपुल अर्नाजित वृद्धि की स्थिति आयी, ताकि उसका उपयोग आगे चलकर औद्योगिक पूँजी के रूप में हो सके। पृथक् अणुओं के समूह की भाँति यह जनसमुदाय भी अकस्मात् एकत्र जनसमूह की भाँति व्यक्ति-समूहमात्र रह गया। आश्चर्य की बात यह है कि विचारक भी प्राय. भूल जाते है कि समूह को समाज नहीं कहा जा सकता और सामाजिक प्राणी के लिए सामाजिक जीवन पहली आवश्यकता है। यह सच है कि सामाजिक-भावना मनुष्य की आधारभूत भावना होने से अन्य रूपों में सामने आयी और वह लोकहितकारी, क्रीड़ा-विषयक, क्षुद्रकोटि के और यहाँ तक कि कुख्यातिकर कार्यों और सम्पर्कों की ओर भी प्रवृत्त हुआ। किन्तु पूर्णरूप से स्थानीय सामाजिक जीवन से इसका सम्बन्ध अत्यन्त अपरिमित था।[1] (चिह्नित अंश लेखक के)।

पश्चिमी ढंग का आणविक अथवा मुंडाधारित (Atomistic or Statistical) आधुनिक लोकतंत्र इसी प्रक्रिया के चलते पृथक् व्यक्तियों का दैववशात् एकत्र समूहमात्र रह गया है। आधुनिक पाश्चात्य लोकतन्त्र में मनुष्य की सामाजिक प्रकृति और मानव-समाज की वास्तविक प्रकृति की पूर्णरूप से उपेक्षा है। यह लोकतन्त्र समाज के ऐसे स्वरूप की कल्पना करता है, जो पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का समूहमात्र है अर्थात् समाज-विषयक उसकी धारणा विकीर्णता की है। आज की लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था के भव्य भवन का निर्माण व्यक्तिगत मतदान रूपी ईंटों से हुआ है; लोकतंत्र की सम्पूर्ण प्रक्रिया वोटों की गिनती पर निर्भर है। व्यक्तिगत रूप से मतदाता समाज के एक पृथक् अणु के रूप में मतदान करता है। मतदान की इस प्रणाली में उसका एकावयविक (Organic) सम्बन्ध अवयव के अन्य जीवित सेलों से किसी सजीव सेल की भाँति का नहीं होता। लोकतंत्र की संस्थाओं और प्रक्रियाओं में मनुष्य के सामाजिक स्वरूप का नहीं, पार्थक्य के स्वरूप का ही प्रतिनिधित्व अथवा अभिव्यक्ति देखने में आती है।

यह अत्यन्त कारुणिक स्थिति है कि इतनी प्राचीन और समुन्नत परम्पराओंवाले एशियाई देश पश्चिम की इस निरवयविक (निर्जीव) राज्य-व्यवस्था का अन्धानुकरण करने की ओर प्रवृत्त हों। यह हर्ष का विषय है

---

१. एच. जे. फ्लायर : पीटर मैनिलकृत 'लिविंग डेमोक्रेसी इन डेनमार्क' की भूमिका में, पृष्ठ।

कि काहिरा से जकार्ता तक फैली एशियाई जनता इस विषय पर पुर्नविचार कर रही है और अपनी लोकतंत्रात्मक आकांक्षाओं की पूर्ति एवं अभि-व्यक्ति के लिए संसदीय लोकतंत्र की अपेक्षा किसी अन्य उन्नत स्वरूप की चर्चा करने लगी है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, गांधीजी बहुत पहले ही लोकतंत्र को विफल बता चुके हैं और राज्यव्यवस्थाविषयक अपने वैकल्पिक प्रस्ताव उपस्थित कर चुके हैं। गांधीजी के ये सुझाव (प्रस्ताव) भारतीय परम्परा के साथ-ही-साथ मनुष्य और मानव-समाज की वास्तविक प्रवृत्ति से भी मेल खाते हैं। इन सुझावों को प्रस्तुत करते समय गांधीजी ने यह आकांक्षा व्यक्त की थी कि भारत 'प्रत्यक्ष प्रयोग' द्वारा 'लोकतंत्र के सच्चे स्वरूप (विज्ञान) का विकास' करे।

: २ :

सही ढंग की राज्य-व्यवस्था का विधान सामाजिक पुनस्संघटन की समस्या से सम्बद्ध है। यद्यपि यह सच है कि पूर्वकाल मे लोभ अथवा जीवन के अन्य मिथ्या मूल्यों ने मानव की सामाजिक प्रकृति की सक्रियता को ध्वस्त और विनष्ट किया, तथापि अब जब कि लोग सचेत होने लगे है, तो यह आव-श्यक है कि मानव-प्रकृति के अनुरूप आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य प्रकार की विधियो का इस ढंग से सर्जन किया जाय कि जीवन पुन. व्यवस्थित हो सके। आधुनिक उद्योगवाद और तज्जन्य अर्थवाद की भावना ने प्रत्येक मानवीय गुण को आँकने के लिए हानि-लाभ एवं तथाकथित आर्थिक विकास के जिस भाव की सृष्टि की है, उसके ही चलते मानव-समाज विघटित हुआ है तथा मनुष्य को अपने ही लोगों के बीच अपरिचित और विदेशी बना दिया है। यही नहीं कि सामुदायिक जीवन विघटित हो गया है, वरन् पश्चिम में तो परिवार भी छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। यहाँ तक कि जननी, जो परिवार की आत्मा थी, अपना मातृत्व और स्त्रीत्व खोती जा रही है। जैसा कि मदेरियागा ने कहा है : घर की जो विशेषता मिल-जुलकर काम करने की, आमोद-प्रमोद की, रुचि की, अनुभव प्राप्त करने की और 'पारिवारिक भावना' से युक्त होकर संगी-साथी बनाने की थी, वह समाप्त होती जा रही है। इसी प्रकार नारी अपना स्त्रीत्व खोती जा रही है। आज वह सारी लज्जाशीलता और सुकुमारता त्यागकर अधरों के बीच सिगरेट दबाये, अपनी अस्त-व्यस्त केशराशि पर पुरुषों के टोप धारण किये बस-कंडक्टर या स्टेशन का कुली बन विचरण कर रही है। नारी के रूप में वह सफल जीवन व्यतीत कर सकती थी, किन्तु नर का रूप धारण करते समय उसने जिस स्वतंत्रता की कल्पना की थी, वह तो उसके हाथ लगी नहीं, मिली उसे केवल निराशा और नर के संघर्षमय जीवन की श्रांति।

वर्तमान सभ्यता की सबसे बड़ी समस्या है, सामाजिक अखण्डता। आज का मनुष्य एकाकी है, उसकी नकेल दूसरों के हाथों में है। वह एक प्रकार का 'संस्था-मानव' है—ऐसा मानव है, जो अपनी बुद्धि, विवेक और नियंत्रण के परे दूसरी शक्तियों द्वारा चलाया जाता है। यही स्थिति सर्वत्र है, चाहे वह लोकतंत्र हो या अधिनायक-तंत्र। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य को मनुष्य के सम्पर्क में रखा जाय, जिसमें सभी मनुष्य सार्थक, सहानुभूतिपूर्ण और संयमित जीवन व्यतीत कर सकें। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे सामने समस्या मानव-समाज के पुनर्निर्माण की है, जिसमें वह सामुदायिक जीवन बिता सके।

भारत के लिए यह संयोग की बात है कि यहाँ समाज के विखण्डीकरण की प्रक्रिया बहुत आगे नहीं बढ़ पायी है और आज भी देश की ८० प्रतिशत जनता के आश्रयदाता हमारे ६ लाख गाँवों में कम-से-कम मूर्तरूप से वह स्थिति विद्यमान है कि हम सामुदायिक जीवन का सरलतया निर्माण कर सकें। पिछले अध्याय में प्राचीन भारत के सामुदायिक जीवन और ग्राम-समुदायों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। हजारों वर्ष के सामुदायिक जीवन और प्रशासन का यह अनुपम उदाहरण है, जिससे आज हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

: ३ :

आइये, हम समुदाय पर विचार करें। यद्यपि अनेकानेक परिवारों की प्रादेशिक सन्निधि (सामीप्य) समुदाय के लिए आधारभूत और महत्त्वपूर्ण शर्त है, तथापि इतने से ही समुदाय नहीं बनता। उदाहरणस्वरूप भारत के वर्तमान गाँवों को वास्तविक समुदाय नहीं कह सकते। पहले वे समुदाय अवश्य थे, किन्तु आज वे केवल प्रादेशिक उपनिवेश हैं। इसका कारण यह है कि इन गाँवों का आज का जीवन सामुदायिक नहीं, वैयक्तिक है; सावयविक नहीं, निरवयविक है। वास्तविक समुदाय में साझेदारी—अर्थात् साथ मिलकर रहने, खाने, करने, हिस्सा बटाने, सुख-दुःख समझने और काम आने—की बात आती है; हितों की एकात्मकता का भाव रहता है। अनेकत्व में एकत्व की अनुभूति होती है; निश्चित सामाजिक उत्तरदायित्वों के मध्य स्वतंत्रता का भान होता है; समुदाय और उसके सदस्यों के हित-साधन के एकमात्र लक्ष्य को ध्यान में रखकर कार्यों के विभाजन की व्यवस्था होती है। जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय, राजनीति ये सब मनुष्य को विविध—कभी परस्पर संघर्षरत—गुटों में बाँटते हैं। समुदाय (सामुदायिक जीवन) उन्हें परस्पर समीप लाता है, एकता के सूत्र में बाँधता है और उनके हितों में संगति बैठाता है। सामुदायिक जीवन में कृषि, उद्योग, पूँजी, श्रम, कौशल, बुद्धि के बीच संघर्ष की कभी कोई स्थिति नहीं आती; वरन् सारे समुदाय की

दृष्टि से इनका समन्वय किया जाता है। उत्पादन और उपभोग यहाँ किसी दूरस्थ सूत्र द्वारा सचालित आर्थिक-व्यवस्था के दो पहलू नही हैं, किन्तु यह एक प्रकार की समन्वित प्रक्रिया है, जिसका स्पष्ट और निश्चित उद्देश्य होता है। समुदाय का संघटन व्यक्तिगत सम्बन्धो के आधार पर होता है तथा लोगों की स्वतंत्र इच्छा और अभिरुचि आत्मप्रेरित अनुशासन और समान-संस्कृति की सीमा में बँधी रहती है। समुदाय के सभी सदस्य सामुदायिक हित के मामलो मे समझदारी और सहयोग के भाव से काम करते हैं। समुदाय एक प्रकार की सहकारी संस्था ही है, किन्तु इसमें और साधारण सहकारी संस्था में बडा भारी अन्तर यह है कि जहाँ समुदाय में सहकारिता के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन आता है, वहाँ साधारण सहकारी संस्थाओं का कार्य केवल आर्थिक क्षेत्र तक परिमित रहता है। दूसरी बात यह कि समुदाय के सभी सदस्य इसके अन्तर्गत आ जाते है, जब कि साधारण सहकारी संस्थाओं का ध्यान अपने हिस्सेदारों तक ही रह जाता है। समुदाय के अच्छे-बुरे सभी दिनो का समान रूप से सभी निवासियो पर असर पड़ता है। अपने आन्तरिक मामलो में समुदाय को पूरा नियंत्रण और अधिकार प्राप्त रहता है। मत-विभाजन समुदाय के लिए विष है। इसलिए चेष्टा बराबर इस बात की रहती है कि अधिक-से-अधिक चयन सर्वसम्मत हो। एद्रियानो आलिवेत्ती ने बहुत ही अच्छी तरह इसको समझाया है समुदाय का आदर्श वही है, जिससे ट्रेण्ट की परिषद् को प्रेरणा मिली : आवश्यक मामलों में एकता; सन्देह की स्थिति मे स्वतंत्रता तथा सभी बातो में सहिष्णुता।

यह जान लेना चाहिए कि आज के बहुमत-अल्पमत ढर्रे की विभाजनात्मक और विघटनात्मक प्रक्रियावाली निर्वाचन-प्रणाली से भारत के ग्राम-समुदायों की कार्य-पालिकाओं के अधिकारी नहीं चुने जाते थे। इसके विपरीत इनका चयन सबकी सहमति से या कभी-कभी गोटी डालकर किया जाता था।

मेरे यह सब कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि जैसे समुदाय का वर्णन ऊपर किया गया है, वैसे समुदाय का अस्तित्व कभी रहा या यदि लोग छोटे-छोटे प्रादेशिक क्षेत्रों में बस जायँ, तो यह स्वयमेव अस्तित्व में आ जायगा। ऐसा होता तो भारत के सभी गाँव आदर्श समुदायों का रूप ग्रहण कर लेते। किन्तु मै जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह यह है कि [और मैं पूरे आग्रह के साथ कह रहा हूँ कि] ऐसा समुदाय ही भारत के पुर्ननिर्माण का लक्ष्य होना चाहिए। तभी मनुष्य की सामाजिक प्रकृति और आधुनिक सभ्यता के मानववादी आदर्शों की चरितार्थता सम्भव है। और तभी सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो सकेगा।

व्यापक रूप से और बहुत बड़े पैमाने पर उद्योगीकृत और पौरीकृत (नगरीकृत) पश्चिमी देशों के लिए यह कार्य सिर खपानेवाला अवश्य है।

किन्तु पश्चिम के बहुत-से विचारशील व्यक्ति गभीरतापूर्वक इस बात पर विचार करने लग गये हैं। जहाँ तक भारत का सवाल है—और मैं समझता हूँ, सर्वसत्तावाद का जामा न पहन चुकनेवाले सभी एशियाई देशों का सवाल है—हमारी परिस्थिति इस प्रकार के अभियान के लिए बहुत ही अनुकूल है।

गांधीजी ने लिखा है : पाश्चात्य सभ्यता नगराधारित है। ब्रिटेन अथवा इटली जैसे छोटे देश अपनी पद्धति नगराधारित कर सकते हैं। अमेरिका जैसे अल्प जनसंख्यावाले बड़े देश भी कदाचित् इस पद्धति का अवलम्ब नकर सकें। किन्तु जनसंख्याबहुल और आज भी उपयोगी प्राचीन ग्राम-परम्पराओं से युक्त किसी बड़े देश (भारत) को पश्चिम के इस आदर्श का किसी भी हालत में अनुकरण न करना चाहिए।[१]

: ४ :

समुदाय पर और विचार करने के पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि संक्षेप में विज्ञान और सामाजिक संघटन पर उसके प्रभाव की चर्चा कर ली जाय। यह कहा जा सकता है कि छोटे-छोटे स्थानीय समुदाय किसी समय भले ही गाँवों के ढाँचे में ठीक बैठ जाते रहे हों, किन्तु उद्योगवाद के इस युग में उनका महत्त्व शायद अतीतकालिक सभ्यता के भोंडे नमूनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के साथ पौरीकरण (नगरीकरण) का अपरिहार्य सम्बन्ध है।

मुझे यह तर्क बिलकुल ही मान्य नहीं है। यहाँ पौरीकरण (नगरीकरण) और ग्राम-जीवन में से एक को चुनने का सवाल नही है। शहरी और ग्राम-जीवन को दो समझना अयथार्थ और अवैज्ञानिक है। मानव-जीवन और उसके विकास के लिए कृषि और उद्योग दोनों आवश्यक हैं। उद्योग के प्रश्न पर मानव के सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि उद्योग मनुष्य के लिए है, मनुष्य उद्योग के लिए नहीं। कुछ लोग विज्ञान और प्रविधि की बातें इस प्रकार करते हैं, मानो वे भी भूमि-कम्प आदि की भाँति प्रकृति की कोई ऐसी शक्ति (विभीषिका) हों, जिनके विरुद्ध कुछ कर सकना शक्य नहीं है, अतः हमें अपने को उनके अनुरूप ढाल लेने के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं है। विज्ञान, उद्योग आदि सभी मानव-मस्तिष्क की उपज है, अतः उनका नियोजन मानव के उद्देश्य से होना चाहिए। हुआ यही है, किन्तु उद्देश्य की यह भावना उदात्त अथवा उपयुक्त नहीं रही है। विज्ञान और उससे उत्पन्न प्रविधि का मुख्य कार्य वैयक्तिक लाभ और शक्ति-संचय हो गया। पहले का प्रतिनिधित्व पूंजीवादी प्रणाली से होता है, दूसरे

१. श्री प्यारेलाल : वही, पृष्ठ ५८८।

का केन्द्रीकृत शासन-प्रणाली से, चाहे वह लोकतन्त्रात्मक हो या सर्वाधिकारवादी। विज्ञान को निरपेक्ष अथवा नैतिकता के प्रश्न से असम्बद्ध कहकर सारा दोष मनुष्य के सिर मढ़ने की चाल पड़ गयी है। दोष की बात तो समझ में आती है, किन्तु विज्ञान को निरपेक्ष अथवा नैतिकता से असम्बद्ध कहना निरर्थक है। जो भी हो, विज्ञान है तो उद्देश्यप्रेरित मानव-प्रयास का ही परिणाम। ऐसी स्थिति में इसे नैतिक दृष्टि से निरपेक्ष नही कहा जा सकता। यदि विज्ञान से मानव का जीवन सुखी नहीं होता, मानवीय गुणो का उत्कर्ष नहीं होता, तो यह [वास्तविक] विज्ञान नही; मिथ्या विज्ञान है। जिस 'विज्ञान' के चलते मानव-समाज विशृंखल हुआ है, मानव प्राणी को अपने साथियों और सहधर्मियों से पृथक् हो जाना पड़ा है, आर्थिक एवं राजनीतिक दैत्यों की सृष्टि हुई है और मानव को उनका गुलाम होते जाना पड़ा है, मानव का यान्त्रिकीकरण हो गया है, उसे अवश्य ही मिथ्या विज्ञान करार देकर ठुकरा देना चाहिए तथा उसके स्थान पर नये विज्ञान एवं प्रविधि का शोध किया जाना चाहिए, जो जीवन की उत्तम विधि के विकास में योगदान कर सके। विज्ञान का व्यावसायिकीकरण समाप्त कर उसके स्थान पर उसका मानवीकरण होना चाहिए। विज्ञान का उद्देश्य [अर्थ]-लाभ और शक्ति-संचयन न होकर सुख और शान्ति होना चाहिए।

यदि आज मनुष्य निश्चय कर लेता है कि भेड़ की भाँति नगरों में ठूँसे जाने के बजाय छोटे समुदायों में रहना श्रेयस्कर है, यन्त्र बनने के बजाय चेतन मानव बनना कहीं अच्छा है, बालू की ढेर का कण बनने के बजाय समुदाय का सदस्य बनना आवश्यक है, तो कोई कारण नहीं कि विज्ञानवेत्ता उपयुक्त ढंग के विज्ञान और प्रविधि का विकास न करें। ऐल्डस हक्सले कहते है : उस स्थिति की जरा कल्पना कीजिये, जब कि आविष्कार-कर्ताओं और इंजीनियरों का यह मान्य उद्देश्य हो जाय कि वे व्यावहारिक विज्ञान का उपयोग सामान्य जनता के लिए ऐसे साधन जुटाने के उद्देश्य से करेंगे कि वह लाभकर एवं वास्तविक महत्त्व के कार्य कर सके तथा वे (विज्ञानवेत्ता) सामान्य नर-नारी को अधिपतियों के चंगुल से छुडाने में मदद कर सकेंगे, ताकि वे अपने श्रम और रोजी के मालिक बन सकें अथवा जीवन-निर्वाह के लिए सक्रिय स्वाधिकारप्राप्त सहकारी यूथ के सदस्य बन सकें। उपयुक्त विधान द्वारा समर्थनप्राप्त इस भिन्न प्रकार के अभिनव प्राविधिक विकास से प्रगतिशील जनसंख्या की, सहज लभ्यभूमि की, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की तथा राजनीति एवं आर्थिक शक्ति की नयी सृष्टि होगी। इसके अतिरिक्त अधिक लोगों के लिए परितोषदायी जीवन की व्यवस्था होने से इसका सामाजिक लाभ होगा, वास्तविक स्वाधिकारप्राप्त लोकतंत्र का उदय होगा तथा ऐसी विनाशकारी वयस्क-शिक्षा से छुटकारा मिलेगा, जिसकी व्यवस्था उपभोग्य सामग्री के सामूहिक उत्पादनकर्ता विज्ञापनों के

माध्यम से कर देते हैं। इससे विज्ञान का भी लाभ होगा। विज्ञान का व्यवसायात्मक प्रयोग होने से उसकी प्रगति स्वयं अवरुद्ध हो गयी है।[१]

आलिवेत्ती तो एक कदम और आगे जाकर कहते हैं: प्राविधिक और सांस्कृतिक प्रगति के फलस्वरूप उस विकेन्द्रित अवस्था की उत्पत्ति होती है, जिससे छोटे-छोटे नगरों के ऐसे संघ बन जाते है, जहाँ के जीवन में अधिक गहराई होती है और जहाँ आज के कोलाहलपूर्ण जनसंकुल नगरो से तथा सबसे असम्बद्ध और मानवीय गुणों से अयुक्त जीवन-प्रणाली से पृथक् होकर लोग सुसंगति, शान्ति और प्रेम का जीवन बिताते है।[२]

अस्तु, तो जिस प्रकार की समाज-व्यवस्था की हम परिकल्पना करते है, वह न 'नगर-प्रधान' होगी, न 'ग्राम-प्रधान'। यदि उसे कोई नाम देना ही हो तो हम उसे सामुदायिक (समुदाय-प्रधान) कह सकते है। दूसरे शब्दों में, यह वास्तविक समाज होगा। वैज्ञानिक विकास ने 'ग्राम' और 'नगर' का भेद मिटा दिया है। भावी समुदायों की व्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच सन्तुलन की स्थिति रहेगी। उन्हें हम कार्षिक-औद्योगिक समुदाय कह सकते हैं। विज्ञान और प्रविधि से वे उसी अंश तक सहायता लेंगे, जहाँ तक जीवन के लिए ये उपयोगी होंगे; इससे अधिक और कुछ नहीं। भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण कहीं कृषि को और कहीं उद्योग को प्रधानता मिल सकती है। किन्तु इन दोनों में सन्तुलन स्थापित कर रखना सभीका लक्ष्य होगा। आज के दैत्याकार बड़े नगरों को यथासंभव इस ढंग से विकेन्द्रित करना होगा कि इनका जमघट दूर हो और जीवन की उपयुक्त अवस्था के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न की जा सके। बाकी के लिए उनको इस ढंग से पुनस्संघटित करना होगा कि छोटे-छोटे समुदायों का संघ बन सके। जिस सीमा के आगे इनको विकेन्द्रित करना शक्य न होगा, उसके बाद इनको कायम रखा जायगा। किन्तु इस बात का बराबर ध्यान रखना होगा कि ये बढ़ने न पायें और न ये बड़े नगर खड़े होने दिये जायँ।

एक प्रश्न यहाँ यह उठ सकता है कि स्थानीय अथवा प्रारम्भिक समुदायों का बड़े-से-बड़ा आकार क्या हो? इसका कोई झट से सटीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसको नापने का कोई यांत्रिक पैमाना नहीं है। प्रारम्भिक समुदाय सावयविक ढंग से विकसित होंगे, अत: इनका आकार परिस्थितियों के अनुसार घट-बढ़ सकता है। एक बात यहाँ कही जा सकती है कि इनका आकार इतना छोटा भी न होना चाहिए कि सामुदायिक एवं सांस्कृतिक विकास कठिन हो जाय और न इतना बड़ा ही होना चाहिए कि इनमें बसनेवालों का

---

१. श्री प्यारेलाल : वही, पृष्ठ ५८७।
२. एद्रियानो आलिवेत्ती : कम्युनिटी ऑन दि मार्च, पृष्ठ १४।

व्यक्तित्व ही लुप्त हो जाय। भारत में 'राजस्व-ग्राम' सहज-बोध्य है। भले ही इसके अन्तर्गत कई पुरवे हो, किन्तु इन सबके निवासी अपने को एक ही ग्राम का निवासी समझते है। इस प्रकार भारत में राजस्व-ग्राम (मौज़ा) को प्रारम्भिक समुदाय के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। जिन राज्यों में ये राजस्व-ग्राम बहुत बड़े हों, वहाँ समुदायों की नयी सीमा निर्धारित की जा सकती है।

: ५ :

अब तक हमने स्थानीय अथवा प्रारम्भिक समुदाय पर विचार किया और बताया कि किस प्रकार यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की सृष्टि है और यही ऐसी इकाई है, जिस पर समाज का ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए। आगे हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि यह कार्य हो कैसे? पहली बात तो यह कि क्या समाज प्रारम्भिक (सामुदायिक) इकाइयों का योगमात्र हो। यह समझ लेना चाहिए कि फिर ऐसा समाज गिनतीमूलक या अणुमूलक अथवा इसी प्रकार की कोई चीज बनाकर रह जायगा, जैसा कि व्यक्तिसमूह-मात्र पर आधारित आज का पाश्चात्य समाज है। जिस प्रकार प्रारम्भिक समुदाय मे अनेक परिवार मिलकर सहयोगपूर्वक संयुक्त जीवन-पद्धति का विकास समाज-संघटन के उद्देश्य से करते है, उसी प्रकार प्रारम्भिक समुदायो को आपस में मिलकर और सहयोगपूर्वक सामूहिक समस्याओं के निराकरण और समान हितों की प्राप्ति के लक्ष्य से अग्रसर होना चाहिए। ऐसा सहयोग और सामंजस्य दूरस्थ और बहुत अधिक प्रारम्भिक समुदायों के बीच तो संभव न होगा, किन्तु पारस्परिक सम्पर्क का यह कार्य निकटस्थ और पड़ोसी समुदायो के बीच अवश्य सम्भव है। इसलिए परिपूर्ण और अखण्ड एकात्मक सामाजिक-व्यवस्था के निर्माण की दिशा में पहला कार्य यह किया जा सकता है कि बहुतेरे पड़ोसी प्रारम्भिक समुदाय मिलकर और सहयोगपूर्वक क्षेत्रीय समुदाय का संघटन करें। प्रत्येक प्रारम्भिक समुदाय अपने आन्तरिक सुलभ साधनों से यथासम्भव सभी कार्य करेगा। किन्तु ऐसे बहुत-से कार्य है, जिनके लिए उसकी सामर्थ्य और साधन पर्याप्त न होंगे। उदाहरणस्वरूप प्रारम्भिक समुदाय अपने साधनों से प्राथमिक पाठशालाओं, प्राथमिक स्वास्थ्य-सेवाओं, ग्रामोद्योगों और कुँओं और सरोवरों जैसे सिंचाई के लघु-साधनों की व्यवस्था तो कर सकते हैं; किन्तु ऊँचे स्तर के विद्यालयों, अस्पतालों, बिजलीघरों, बड़े उद्योगों तथा सिंचाई के बड़े साधनों की व्यवस्था उनके लिए शक्य न होगी। अतः ऐसे कार्य सम्पन्न करने के लिए कई समुदायों को मिलकर व्यवस्था करनी पड़ेगी। इस प्रकार क्षेत्रीय समुदाय विकास-क्रम की प्रक्रिया के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है, जिससे समुदाय का क्षेत्र विस्तृत और व्यापक होता जाता है। अब यह स्पष्ट हो जायगा कि क्षेत्रीय

समुदाय सम्बद्ध प्रारम्भिक समुदायों का समूहमात्र नहीं है, वरन् यह स्वयं एक अखण्डच एकात्मक समुदाय है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रीय स्तर पर यहाँ प्रारम्भिक समुदायों की गतिविधियों और संस्थाओं का सम्मिलित रूप सामने आता है—ग्राम-पंचायतें मिलकर क्षेत्रीय पंचायत में एकाकार हो जाती है, ग्राम-सहकारी-संस्थाएँ मिलकर क्षेत्रीय सरकारी-संस्था का स्वरूप खड़ा करती हैं, प्राथमिक पाठशालाओ से मिलकर क्षेत्रीय विद्यालय अस्तित्व में आता है, गाँवों के युवक संघटनों और सांस्कृतिक कार्यक्रमो का सम्मिलित रूप क्षेत्रीय समुदाय में प्रकट होता है और ग्राम्य विकास-योजनाओ का पर्यवसान क्षेत्रीय योजना में होता है। जैसे प्राथमिक समुदाय को आन्तरिक प्रशासन में स्वाधिकार प्राप्त रहता है, उसी प्रकार क्षेत्रीय समुदाय उन सभी मामलों में स्वाधिकारप्राप्त इकाई है, जिनके सम्बन्ध में प्राथमिक सामुदायिक अपने अधिकार उन्हें सौप देते है। [अधिकार सौंपने की बात इसलिए उठती है कि प्राथमिक समुदायों के लिए वे सारे कार्य शक्य नहीं हैं, जिनका किया जाना आवश्यक है।] लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि क्षेत्रीय समुदाय कोई ऐसी संस्था नहीं है, जो प्रारम्भिक समुदायो के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप कर सके या उनका नियंत्रण करे। अपनी अधिकार-सीमा में सभीको पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

यह क्षेत्रीय समिति वैसे शक्तिभर सभी कार्य करेगी, किन्तु उसकी भी सीमाएँ तो है ही। सभी काम—जैसे प्राविधिक-कार्षिक महाविद्यालयों की स्थापना और संचालन, बड़ी सिंचाई-योजनाओं की व्यवस्था, बिजली के उत्पादन का प्रबन्ध, यन्त्रों का निर्माण आदि—उसके बूते के नही हैं। इन कार्यो को सम्पन्न करने के लिए कई क्षेत्रीय समुदायों को मिलकर अपेक्षाकृत बड़े समुदाय, जैसे जिला-समुदाय बनाने होंगे। ये जिला-समुदाय भी एक प्रकार के अखण्डच एकात्मक समुदाय होगे, जिनके सम्बन्ध क्षेत्रीय समुदायों के साथ उसी प्रकार के होंगे, जिस प्रकार के सम्बन्ध क्षेत्रीय समुदायों और प्रारम्भिक समुदायों के बीच होते है।

इसी प्रकार जिला-समुदायों का संघात्मक रूप प्रान्तीय[१] समुदाय होगा और प्रान्तीय समुदायों से राष्ट्रीय समुदाय का संघटन होगा। सम्भव है, वह दिन भी आये कि राष्ट्रीय समुदाय संघबद्ध होकर विश्व-समुदाय की सृष्टि कर सकें।

---

१. यहाँ जिस सामाजिक संघटन की कल्पना की गयी है, उससे आज प्रचलित 'राज्य' शब्द मेल नहीं खाता। हमारी कल्पना के अनुसार प्रत्येक ग्राम-समुदाय एक प्रकार का 'नगर-राज्य' है और समुदाय का प्रत्येक केन्द्रीभूत मंडल अपने क्षेत्र में 'राज्य' है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहली बात यह कि जैसे-जैसे हम सामुदायिक जीवन और संघटन की दिशामें आगे बढ़ते जाते है अर्थात् छोटे से बड़े (आन्तरिक से बाह्य) समुदायों की दिशा में अग्रसर होते जाते हैं, वैसे-वैसे यह देखते है कि बड़े समुदायों का काम घटता जाता है; यहाँ तक कि जब हम राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचते है, तो देखते हैं कि उसका कार्य प्रतिरक्षा, परराष्ट्र-सम्पर्क, मुद्रा-व्यवस्था, अन्तरप्रान्तीय सहयोग एवं सामंजस्य-स्थापन और विधान-निर्माण तक ही रह जाता है।

दूसरी बात यह कि ऐसे सामाजिक संघटन में 'लोगों को', जो अब निरुद्देश्य समवेत नरसमूहमात्र न होकर सुव्यवस्थित, स्वशासित (स्वाधिकारप्राप्त) समुदाय बन गये रहते है, अपनी सब प्रकार की व्यवस्था करने का भरपूर अवसर प्राप्त होता है। सुनने में यहाँ पुनरुक्ति-सी लगेगी, किन्तु इससे भिन्न कुछ हो भी नही सकता; क्योकि और बातों के अतिरिक्त स्वशासन के उद्देश्य से भी जान-बूझकर इस प्रकार का समाज संघटित किया जाता है।

जिस सामुदायिक राज्य-व्यवस्था का ऊपर वर्णन किया गया है, उसमें ही लोगों को समझदारी की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था सुलभ हो सकती है। ऐसा ही लोकतन्त्र हमारा आदर्श है और यही आदर्श लोकतन्त्र के सभी प्रेमियों का होना चाहिए। ऐसे ही समाज में मनुष्य 'यन्त्र-मानव' बनने से बच सकता है, जब कि आधुनिक सभ्यता ने उसकी यह स्थिति बना डालने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। ऐसे ही समाज में उसे स्वाधीनता और वैयक्तिक महत्त्व के दर्शन हो सकेंगे, क्योंकि वह (सजीव) समुदाय का सदस्य बन जाता है। जैसा कि लार्ड नार्थबोर्न ने कहा है : वैयक्तिक स्वाधीनता को नष्ट होने से बचाये रखने के लिए यदि हम किसी प्रकार के मानव-निर्मित विधान की बात सोच सकते है, तो उसकी व्यवस्था छोटी-छोटी, प्रबन्ध-योग्य, सुदृढ़ प्राथमिक इकाइयों के ही आधार पर हो सकती है—ऐसी इकाइयाँ, जो एकरूप और आत्मनिर्भर हों और जिनको मिलाकर बड़ी इकाइयों का निर्माण किया जा सके, जो स्वयं भी एकरूप और आत्मनिर्भर हो।[१] (चिह्नित अंश लेखक के)।

: ६ :

सामाजिक संघटन की यह चर्चा समाप्त करने के पूर्व मै एक अन्य आवश्यक प्रश्न पर भी संक्षेपतः विचार कर लेना चाहता हूँ। वह प्रश्न यह है कि क्या छोटे से लेकर बड़े समुदायों तक के बीच मानव और सामुदायिक

---

१. श्री प्यारेलाल : वही, पृष्ठ ५८१।

जीवन के विकास की दृष्टि से कोई सर्वाधिक महत्त्व का भी समुदाय है ? मेरा खयाल है कि ऐसा समुदाय होना चाहिए और इसको निश्चित करना सामाजिक संघटन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में, ग्राम-समुदायों के संघों के बावजूद ग्राम-समुदाय का ऐसा ही महत्त्व था। यह बात अवश्य ही ध्यान में रखने की है कि संवहन-साधनों का विकास न होने से तथा राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति बराबर आते रहने से सामुदायिक सिद्धान्त का विकास उचित सीमा तक न हो पाया। किन्तु जिस सीमा तक इसका विकास हो सका, उस सीमा तक प्रारम्भिक समुदाय (ग्राम-समुदाय) समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई था। वर्तमान परिस्थितियों में 'राजस्व-ग्राम',जिसे हम लोगों ने प्रारम्भिक समुदाय के रूप में स्वीकार किया है, अपने विकास-कार्यक्रम स्वयमेव पूर्ण कर लेने में सक्षम नहीं है। किन्तु इसके साथ ही जिला-समुदाय इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए काफी बड़ी इकाई हो जायगा।

एड्रियानो आलिवेत्ती ने इस प्रसंग में एक आदर्श (Optimum) समुदाय की कल्पना की है। आप कहते हैं : इतिहास और विवेक दोनों से हम एक ही हल पर पहुँचते है, वह यह कि आदर्श (Optimum) समुदायों का विधान किया जाय, जो न बहुत बड़े हों, न बहुत छोटे—ऐसे समुदाय, जिनका प्रबन्ध मानवीय स्तर पर किया जा सके।[१] (चिह्नित अंश लेखक के)। आप आगे कहते हैं: अतिलघु समुदाय मनुष्य अथवा स्वयं समुदाय के विकास के लिए अपर्याप्त हैं। दूसरी ओर अतिविशाल, केन्द्रीकृत नगर मनुष्य को असम्पृक्त और व्यक्तित्व-विहीन बना देते है। इन दोनों के बीच हमें आदर्श (Optimum) की ग्राह्य स्थिति मिलती है।[२] (चिह्नित अंश लेखक के)। आलिवेत्ती के मतानुसार आधुनिक लोकतन्त्र की वास्तविक समस्या स्थानीय सत्ता के क्षेत्र में आदर्श (Optimum)की स्थिति निर्धारित करने की है, जो स्वतंत्रता के संरक्षण के साथ आधुनिक प्रविधि द्वारा समाज पर लादी गयी क्रियात्मकता की माँग की संगति बैठा सके।[३]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में संघटित सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय प्रसारसेवा-विषयक अध्ययन-दल ने विचार किया था। दल ने अन्य बातों के अतिरिक्त अपनी रिपोर्ट में यह विचार व्यक्त किया था कि प्रशासन के एक ऐसे सुसंघटित लोकतंत्रात्मक ढाँचे की आवश्यकता है,जिसमें ग्राम-पंचायतें सम्पृक्त, सावयविक रूप से

---

१. एड्रियानो आलिवेत्ती : कम्युनिटी आइडियल्स, पृष्ठ ६-७।
२. वही : कम्युनिटी आन दि मार्च, पृष्ठ १४।
३. वही : पृष्ठ ८।

ऊँचे-स्तर के लोकप्रिय संघटनों के साथ सम्बद्ध हो सकें।[1] रिपोर्ट में आगे कहा गया है : लोकतंत्र को किसी-न-किसी कार्य-पालिका के माध्यम से काम करना पड़ता है। किन्तु सुविस्तृत क्षेत्र में फैली लोकतत्रात्मक सरकार, जो अपनी कार्य-पालिका के माध्यम से काम करती है, स्थानीय स्थितियों और आवश्यकताओ को भलीभाँति नही समझ सकती। इसलिए यह आवश्यक है किसत्ता और शक्ति का विकेन्द्रीकरण इस ढंग से किया जाय कि ऐसी सत्ता और अधिकार का नियंत्रण स्थानीय क्षेत्र के लोकप्रिय प्रतिनिधियों द्वारा हो सके।[2]

इन कारणो से ही दल का खयाल था कि जिला-बोर्ड इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनावश्यक रूप से बड़े सिद्ध होंगे। इसी प्रकार आज की अन्य प्रशासनिक इकाइयाँ भी इस कार्य के लिए ग्राह्य न समझी गयी। अतः दल ने अन्त में सामुदायिक विकास-खण्डो को इस कार्य के लिए उपयुक्त इकाई माना। दल की रिपोर्ट में कहा गया है . ये खण्ड ऐसे उपयुक्त (बड़े) क्षेत्र है, जो ऐसे कार्यो के लिए पर्याप्त सुविधा प्रदान करते है, जिनकी पूर्ति ग्राम-पंचायतों के बूते के बाहर की चीज है और साथ ही ऐसे छोटे भी है कि खण्ड का प्रत्येक निवासी इनके कार्यो में दिलचस्पी ले सके।[3] आगे चलकर कहा गया है : हमारा मत है कि कि अधिक सक्षम और उपयोगी व्यवस्था इस प्रसंग में यह होगी कि ऐसी स्वाधिकारप्राप्त निर्वाचित संस्था का विधान किया जाय, जिसका अधिकार-क्षेत्र विकास-खण्ड के बराबर हो।[4] दल ने प्रयोगात्मक रूप से इस संस्था का अभिधान पंचायत-समिति करने का निश्चय किया, 'जिसका संघटन ग्राम-पंचायतों से परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली द्वारा होना चाहिए।'[5]

श्री बलवन्तराय मेहता दल के समक्ष सामुदायिक समाज का पूरा स्वरूप उपस्थित नही था और न उसका उद्देश्य ऐसे समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना था। फिर भी कुछ हद तक दल के विचारों और उपर्यकित विचारों में सादृश्य है। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि पंचायत-समिति में सम्मिलित किये जानेवाले समुदाय को ही उपरिलिखित आदर्श (Optimum) समुदाय माना जा सकता है। यही आदर्श (Optimum) समुदाय पहले सुझाये गये क्षेत्रीय समुदाय का सहवर्ती होगा और जिला एवं प्रारम्भिक समुदाय का मध्यवर्ती रहेगा।

---

१. रिपोर्ट, पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ ७।
३. वही, पृष्ठ ९।
४. वही, पृष्ठ ९।
५. वही, पृष्ठ १०।

: ७ :

जो लोग गांधीजी के विचारों से अवगत हैं, उन्हें समाज के उपर्युक्त विवरण में उनके विचारों से बहुत कुछ साम्य मिलेगा। गांधी के निम्न-लिखित वाक्यों से भला कौन अपरिचित होगा ?

"अनेकानेक गाँवों को मिलाकर खड़े किये गये इस ढाँचे की विशेषता यह होगी कि इसका क्षेत्र-विस्तार तो निरन्तर होता रहेगा, किन्तु कोई मंडल या इकाई दूसरों की प्रधान न होगी, दूसरों को दबोच न सकेगी। इसमें जीवन पिरामिड-सदृश न होगा, जहाँ धरातल पर फैला बड़ा भाग छोटे से शिरोभाग को धारण किये रहता है। इस व्यवस्था में जीवन ऐसे समवृत्त पर आधारित होगा, जिसका केन्द्र-बिन्दु मानव (व्यक्ति) होगा, जो गाँव के लिए अपना बलिदान करने को सदा तत्पर रहेगा। और ये गाँव ग्राम-मंडलों के लिए अपनी बलि चढ़ाने को प्रस्तुत रहेंगे। यह क्रम ऐसे ही तब तक बढ़ता चलेगा, जब तक कि व्यक्ति को आधार मानकर सम्पूर्ण [राष्ट्र का] जीवन एकरस नहीं हो जाता। और ये व्यक्ति कैसे होंगे ? अपनी दाम्भिकता से किसीका अपकार न करनेवाले एवं सदा विनीत तथा जीवन की एकरूपता में सबके साथ, जिसकी एक इकाई प्रत्येक व्यक्ति है, भागीदार।"

पाँचवाँ अध्याय

संसदीय लोकतंत्र

संसदीय लोकतंत्र और इसीसे मिलते-जुलते अमेरिकी राष्ट्रपतीय लोकतंत्र पर आज प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। लोकतंत्र की इस पद्धति के साथ ही उदय होनेवाली दलीय प्रणाली पर भी पर्याप्त साहित्य रचा जा चुका है।

मेरा खयाल है कि संसदीय लोकतंत्र के जोरदार हिमायती भी यह स्वीकार करेंगे कि इसमें बहुत बड़े दोष है। किन्तु वे इस विचार से परितुष्ट हो जाते है कि (१) इससे अच्छा कोई विकल्प नहीं है और (२) एक सीमा के भीतर इसमें संशोधन और सुधार संभव है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि इसमें काफी सुधार की गुजाइश है और सुधार का यह क्रम बराबर ही चलता रहा है। यह दूसरी बात है कि यह सुधार हमेशा लाभदायक नही रहा। चाहे जितने भी सुधार इसमे हुए हो, इसके मलभत दोष बराबर बने रहेंगे, क्योकि उन आधारो पर ही इसका समूचा ढाँचा खड़ा किया गया है।

(१) इसका सबसे बड़ा मौलिक दोष, जिससे अन्य दोष पैदा हुए हैं, यह है कि यह वैयक्तिक मतदान पर आधारित है। इस स्थिति की समीक्षा कर हम यह देख चुके हैं कि समाज का विकीर्ण-स्वरूप ही इस प्रकार की राजनीतिक प्रणाली का जनक है। किन्तु इससे इस बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह प्रणाली मिथ्या धारणाओं पर अवलम्बित है—राज्य व्यक्तियो का योगात्मक स्वरूप नही हो सकता। जनता, राष्ट्र या समुदाय को वैयक्तिक मतदाताओं के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

मदेरियागा का कहना है : वर्तमान प्रणाली बिलकुल ही लोकतन्त्रात्मक नहीं है। यह जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं करती अर्थात् जनता की राजनीतिक सत्ता इसको मान्य नहीं है। इसके विपरीत यह—'ले ओस' का—अर्थात् निरुद्देश्य अथवा सामूहिक चेतना-विहीन समवेत व्यक्ति-समूह का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए इस प्रणाली को हम लोकतन्त्रात्मक नहीं, वरन् 'लेओक्रेटिक' कह सकते हैं।[1] वाल्टर लिपमैन ने लिखा है: चाहे इसका कोई आधार न हो, किन्तु सामान्यतया यह बात मान ली जाती है कि मतदान द्वारा लोग जो अपना अभिमत व्यक्त करते हैं, उसे हम व्यापक-रूप से लोकमत की संज्ञा दे सकते हैं। आधुनिक लोकतंत्र की सबसे बड़ी

---

१. सैलवेदोर दि मदेरियागा : वही, पृष्ठ ८१-८२।

समस्या यही है कि यह मान्यता ही गलत है।[1] इसको और स्पष्ट करते हुए आप कहते है : आज के लोगों को यह बात बड़ी अजीब-सी (असगत) लगेगी कि पोप जनता का प्रतिनिधित्व करें। लेकिन क्या कुछ लोगो द्वारा दिये गये मतों के आधार पर चुने गये कुछ लोगों द्वारा जनता का प्रतिनिधित्व संगत कहा जा सकता है ? यह पहेली यहीं से उठ खड़ी होती है कि जहाँ संश्लिष्ट समुदाय के रूप में जनता सर्वोच्च सत्ता की वास्तविक स्वामी है, वहाँ मतदाताओ के रूप में उसके हित और मत में विभिन्नता, पारस्परिक विरोध और आत्मलाभ की भावना के ही दर्शन होते हैं। प्रतिनिधियों की बहुलता हो जाने का यह मतलब नहीं है कि वे वस्तुतः सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने लग गये।[2] आगे चलकर आप और कहते हैं : यह न समझ लेना चाहिए कि मैं जिस अन्तर की बात कह रहा हूँ, वह मतदाताओं की संख्या बहुत बढ़ जाने पर घट जायगी। ····बीसवीं शताब्दी के सामूहिक आम चुनावों का अनुभव हमें बताता है कि स्थिति इसके ठीक विपरीत है। जिस जनसमूह को पूरी सूचना मिलनी चाहिए और जिससे अपने पक्ष की बात की जानी चाहिए, वह जैसे-जैसे विशाल और विविधतापूर्ण होता जाता है, वैसे-वैसे वोटों की गिनती द्वारा प्राप्त जनमत अवास्तविक होता जाता है।[3] इसके बाद तो मदेरियागा का यह कथन सुनकर आप कदाचित् ही चौंकें · कम-से-कम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में हम कोई भूल नहीं कर सकते कि राष्ट्रीय संसद् के निर्वाचन के लिए प्रत्यक्ष और व्यापक मताधिकार की जो प्रणाली प्रचलित है, वह वस्तुतः लोकतंत्रात्मक नही है। संभवतः यह उसी शस्त्रागार से पैदा है, जहाँ से कि सर्वसत्तावाद के शस्त्र बाहर आते हैं।

(२) संसदीय लोकतंत्र के समर्थकों का दावा है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि सम्पूर्ण जनता की नही, तो कम-से-कम बहुमत की प्रतिनिधि होने का दावा तो सरकार कर ही सकती है। पहली बात यह कि यह मान लेना ही गलत है। बहुत बार यह देखा जाता है कि व्यापक वयस्क-मताधिकार के अन्तर्गत निर्वाचित सरकार अल्पमत की सरकार होती है, क्योंकि वह अल्पमत का ही प्रतिनिधित्व करती है। दो से अधिक राजनीतिक दल होने पर तो ऐसा बहुत बार होता है, किन्तु दो ही दल होने पर भी यह कोई नयी बात नहीं है। उदाहरणस्वरूप भारत में पिछले महानिर्वाचन के बाद १३ में से ७ राज्यों में अल्पमत सरकारें कायम हुईं। केन्द्र-शासित प्रदेशों की बात तो इससे अलग है। इस प्रकार के अल्पमत-शासित राज्य ये हैं :

---

१. वाल्टर लिपमैन : दि पब्लिक फिलासोफी, मेंटर, १९५६, पृष्ठ ३२।

२. वही, पृष्ठ ३२।

३. वही, पृष्ठ ३७।

बिहार (कांग्रेस ४४.४७ प्रतिशत), बम्बई (कांग्रेस ४८.६६ प्रतिशत), केरल (कम्युनिस्ट ३७ ४८ प्रतिशत), मद्रास (कांग्रेस ४६.५२ प्रतिशत), उड़ीसा (काग्रेस ४०.०१ प्रतिशत), उत्तर प्रदेश (कांग्रेस ४६.२९ प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (काग्रेस ४९ २० प्रतिशत) ।[१]

जैसा कि इस देश में अक्सर होता हे, संसदीय लोकतंत्रात्मक प्रणाली के ऐसे भयकर दोपो और दुर्व्यवस्थाओ को भी यह कहकर टाल दिया जाता है कि बहुदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ऐसी बाते अनिवार्य है। यदि ऐसी बातें अनिवार्य हैं और यदि हम वस्तुत. लोकतन्त्र चाहते है, तो हमे बहुत ही तत्परतापूर्वक इससे उन्नत लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। जैसा कि मदेरियागा ने बताया है, इसके विकल्पस्वरूप प्रस्तावित बहुप्रतिनिधिक निर्वाचन-क्षेत्र, समानुपातिक प्रतिनिधित्व अथवा वैकल्पिक मत से समस्या अधिक दूर तक हल नही हो पाती।

(३) इसी प्रकार यह दावा भी कि संसदीय लोकतंत्रात्मक सरकारें कम-से-कम मतदाताओं के अधिकांश का प्रतिनिधित्व करती हैं, तथ्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अनुभव से प्रमाणित होता है और बहुत-से प्रख्यात विचारकों ने, जैसा कि ऊपर दिये गये लिपमैन के उद्धरण से विदित होगा, बताया है कि भारी गठरी, ठगविद्या और संवहन के उन्नत साधनों की मदद से बड़े-बड़े केन्द्र-नियंत्रित दल आज दिन जिस काइयाँपने से सामूहिक निर्वाचनों के लिए अपने पक्ष में प्रचार करते हैं, उसे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि ये निर्वाचन मतदाताओं का नहीं, वरन् उन शक्तियों और हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो दलों को शिखण्डी बनाकर अपना काम साधने के लिए तत्पर रहते हैं। केवल सर्वसत्तापहारी अधिनायक के देश में ही 'जनता पर बलात्कार' नहीं होता। अन्तर इतना ही है कि जहाँ लोकतंत्र में जनहित को कुचलनेवालों में होड़ लगी रहती है, वहाँ सर्वसत्तावाद के अधीन कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रहता।

(४) अब हमारे सामने तुरत ही संसदीय लोकतंत्र का एक और बड़ा दोप आ खड़ा होता है। वह दोष है, जनता को उकसानेवाले भाषण (Dcmagoguery)। मत प्राप्त करने के लिए, मतदाताओं को फँसाने के लिए तरह-तरह की अर्धसत्य और कभी-कभी पूर्ण असत्य बातों का आश्रय लिया जाता है, लोगों को उत्तेजित किया जाता है और बहुत बार उनकी कुत्सित भावनाओं को जगाया जाता है तथा झूठे किन्तु मीठे वादे करके लोगों को फुसलाया जाता है। सार्वजनिक हित से सम्बद्ध किसी प्रश्न (नीति) का सही रूप जनता के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता। इसके विपरीत तिकड़मी ढंग से अपने पक्ष के अनुकूल बातें तोड़-मरोड़ कर उपस्थित

---

१. निर्वाचन-आयोग के प्रतिवेदन से संगृहीत आँकड़े।

की जाती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि बहुत बार इस तिकड़मवाद की वेदी पर राष्ट्र के वास्तविक हितों की बलि चढ़ा दी जाती है। 'वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली का सारा आधार वैयक्तिक मतदाताओ की मुंड-गणना है; जिसकी विधि प्रचलित पद्धति के अनुसार कही कम, कही अधिक जटिल होती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि प्रत्याशियों को चुनाव जीतने के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा की कीमत पर भी तरह-तरह के हथकंडे अपनाने पड़ते है। इसी कारण सामूहिक जीवन की अति जटिल समस्या को अति सरल करने की ओर संसदीय लोकतंत्र अनिवार्यत. प्रवृत्त होता है। इसके चलते लोग पक्षपात, उत्तेजना और उद्वेग की ओर भी प्रवृत्त होते है, जिससे उनमें कलुष भर जाता है। संसदीय लोकतंत्र की इस निर्वाचन-व्यवस्था में चुनाव जीतने के लिए इतनी बड़ी कीमत चुकायी जाती है कि इससे देशहित की बलि तो चढ़ ही जाती है, मतदाताओ के भी वास्तविक और दीर्घकालव्यापी हितों को क्षति पहुँचती है, भले ही उनको तात्कालिक और स्पष्ट लाभ दिखायी पड़ता हो।'[१]

वाल्टर लिपमैन ने 'कठोर' और 'मृदुल' नीतियो का भेद बहुत अच्छी तरह समझाया है। मृदुल नीति वह है, जो जनता की इच्छाओं को व्यक्त करती है। कठोर नीति वह है, जो यह बताती है कि इच्छाओं की पूर्ति के लिए क्या करना आवश्यक है। आप कहते है : कठोर और मृदुल नीतियों के इस चक्कर में पड़ी लोकतन्त्रात्मक सरकारों की सामान्यतया यह प्रवृत्ति होती है कि जिस विधि भी सम्भव हो, अधिक-से-अधिक मतदाताओ को अपने अनुकूल बना लिया जाय। ··· यही कारण है कि जब राज्य मे निर्वाचित विधान-सभाएँ बन जाती है और जनमत स्थिर हो जाता है तथा जब मत-दाताओं के झुकाव पर अंकुश लगाने के लिए राजनायक नही रह जाते, वरन् उनको क्षुब्ध करने तथा चूसने के लिए केवल राजनीतिज्ञ रह जाते है, तो ये सरकारें वास्तविक स्थिति का सामना करने में अपने को असमर्थ पाती हैं।[२]

बारह वर्ष की अल्पावधि में ही तिकड़मवाद का और उसके फलस्वरूप हुई राष्ट्रीय क्षति का हमें काफी अनुभव अपने देश में हो चुका है।

(५) स्वयं लोकतंत्र की दृष्टि से संसदीय लोकतंत्र का सबसे बड़ा दोष है, केन्द्रवाद की ओर इसका स्वाभाविक झुकाव। इसकी राजनीतिक रंगावलि-पट्टी (Spectrum) के एक छोर पर है, राष्ट्रीय राज्य और दूसरे छोर पर वैयक्तिक मतदाता है और बीच में है व्यापक रिक्तता। बीच में जिन स्थानीय निकायों का अस्तित्व हो सकता है, उन्हें एक तो बहुत ही कम

१. सैलवेडोर दि मदेरियागा : डेमोक्रेसी वर्सस लिबर्टी, पृष्ठ ६७।
२. वाल्टर लिपमैन : वही, पृष्ठ ४२।

स्वशासनाधिकार प्राप्त है, दूसरे राष्ट्रीय राज्य पर उनका कोई भी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव नही है। इनके साथ ही यदि आप सामान्य नागरिक की समझ से परे की अत्यधिक उद्योगप्रधान सभ्यता की पेचीदगी भी रख लें, तो आपके सामने विपुल साधन और सत्तायुक्त ऐसे केन्द्रीय राज्य का स्वरूप उपस्थित हो जायगा, जिसमे वैयक्तिक मतदाता की स्थिति बिलकुल असहाय की-सी हो जायगी। जिस राष्ट्रीय राज्य में 'सर्वसत्ताधारी जनता' मरुभूमि में प्रसृत सिकता-कण की भाँति देशभर में बिखरी हो और उसके तथा राज्य के बीच कोई अन्य सुसंघटित राजनीतिक शक्ति न हो, उसमें स्वभावतः राष्ट्रीय राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली हो जाता है। ऐसे राज्य मे शक्ति और अधिकार के प्रश्न का निर्णय 'काल्पनिक' (तथाकथित) जनता द्वारा नही, बल्कि राजनीतिक दलों और सुसंघटित स्वार्थो, जैसे उद्योगपतियों एवं साहूकारों, तथा प्रबल मजदूर-संघो के बीच सन्तुलन स्थापित करके होता है। जनता सम्पूर्ण की प्रतिनिधि है, जब कि ये संघटित स्वार्थ-अंश मात्र के। इन थोड़े से अंशो का योग सम्पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। उनके सावयविक सम्मिलन से ही यह सम्भव है। ऐसा सम्मिलन समुदाय के ही विभिन्न स्तरों पर हो सकता है। जिस सामुदायिक या समुदायवादी लोकतंत्र के लिए हम आग्रह कर रहे हैं, उसके अन्तर्गत स्वाभाविक विकेन्द्रीकरण और बहु-केन्द्रीय अनेकात्मक राज्य की कल्पना स्वयं चरितार्थ हो जाती है।

सत्ता और प्रशासन के केन्द्रीकरण का स्वाभाविक परिणाम है, नौकरशाही। केन्द्रीय कार्य-पालिका या मंत्रिमंडल पर काम का इतना बोझ रहता है कि उसे विवश होकर अधिकाधिक काम स्थायी अधिकारियों पर छोड़ना पड़ता है और निर्भर भी उन्ही पर रहना पड़ता है। फलतः ये अधिकारी कालान्तर में अत्यधिक शक्ति और अधिकार प्राप्त कर लेते है। इसका बड़ा भयानक परिणाम यह होता है कि ऐसे नौकरशाहों का निरंकुश शासन होता है, जिनसे लोहा लेना इसलिए कठिन है कि वे परदे के पीछे से काम करते है। नौकरशाही निरंकुशता का एकमात्र जवाब है, सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण, जिसमे जनता प्रशासन में प्रत्यक्षतः भाग ले सके और उन अधिकारियों को भी नियंत्रित कर सके, जिनकी रोजी की वही मालिक है और जिसके प्रति ये अधिकारी जिम्मेदार हैं। जिस सामुदायिक लोकतंत्र का चित्र ऊपर खींचा गया है, उसमें ठीक यही स्थिति रहेगी। सामुदायिक प्रशासन में भूलें हो सकती हैं और अदक्षता एवं अकुशलता की अवस्था भी आ सकती है। किन्तु इससे हानि लोगों की ही होगी, अतः अनुभव से वे बहुत कुछ सीख सकेंगे। क्या ब्रिटिश-शासनकाल में हम नहीं कहा करते थे कि अच्छा शासन स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता? क्या आज भी वह बात उतनी ही सच नहीं है?

(६) संसदीय लोकतंत्र की आनुषंगिक साथी है, दलीय प्रणाली। इसकी इतनी तीव्र आलोचना हुई है और इसके विरुद्ध इतना लिखा जा चुका

है कि यहाँ विस्तारपूर्वक कुछ कहना अनावश्यक है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें इसकी आलोचना की कुछ बात आ गयी है। यह स्पष्ट है कि संसदीय लोकतंत्र का अस्तित्व ही दलों पर है। किसी-न-किसी प्रकार के दल तो सब काल में और सब देशों में रहेंगे ही। यहाँ तक कि परिवार में भी 'दल' हो सकते है। भारत के प्राचीन गणराज्यों में भी, जो अभिजात वंशात्मक लोकतंत्र थे, दल और गुट बराबर रहे। डाक्टर अल्तेकर लिखते है : अन्धक-वृष्णिराज्य के राष्ट्रपति श्रीकृष्ण ने नारद से इस बात की जोरदार शिकायत की कि मैं केन्द्रीय सभा का स्वामी नहीं, दास हूँ; क्योंकि मुझे विभिन्न दलों द्वारा की गयी उग्र आलोचना भी धैर्यपूर्वक सुननी पड़ती है।[१] डाक्टर अल्तेकर आगे कहते है : गणराज्यों की बहुत-सी सभाएँ आधुनिक संसदों और नगर-पालिकाओं की भाँति ही दलो और गुटों में विभक्त थी। वस्तुतः बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र और महाभारत से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि सभा के सदस्यो का पारिवारिक कलह, दलीय संघर्ष, आचरण-भ्रष्टता का प्रलोभन, आन्तरिक विग्रह और परस्पर दोषारोपण गणराज्य की मुख्य दुर्बलता थी। भीष्म ने इस बात पर बराबर जोर दिया कि विदेशी आक्रमण का संकट उतना बड़ा नहीं है, जितना बड़ा आन्तरिक कलह का संकट।[२] किन्तु आज के भलीभाँति संघटित, केन्द्रीकृत और भारी सदस्य-संख्यावाले दल प्राचीन काल के दलों से, चाहे वे भारत के गणराज्यों के हों अथवा यूनान के नगर-राज्यों के, इस मामले में कही बढ़-चढ़कर है। पुराने लोकतंत्र-राज्य बहुत छोटे थे और गुट या उसके सदस्य एक दूसरे से बहुत दूर नहीं थे। इसलिए उन गुटों अथवा दलों को तथा उठाये गये प्रश्नों को लोग भलीभाँति समझ सकते थे। उस समय की समस्याएँ भी सरल थीं। अब स्थिति बहुत बदल गयी है। अब तो ये दल राज्य के भीतर राज्यसदृश हो गये है। ये वस्तुतः जनता के भाग्य-निर्णायक है, जब कि इन पर जनता का नियंत्रण बिलकुल काल्पनिक है। दलों को मत देनेवाले नागरिकों का दलों की व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से लोग दलों के लिए पूरे विदेशी हैं। यहाँ तक कि दलों के विधिवत् सदस्यों को भी दलों के नीति-निर्धारण में अथवा उनके आन्तरिक प्रशासन में कुछ कहने का अधिकार नहीं होता। दलों का संचालन उनकी अंतरंग समितियाँ करती है, जो लोक-नियंत्रण से सर्वथा परे है। मारिस दुवर्गर कहते है : निश्चय ही राजनीतिक दलों का संघटन लोकतंत्र की सुनिश्चित धारणा के अनुरूप नहीं है। उनका आन्तरिक ढाँचा मुख्यतः निरंकुश या कुलीन-तंत्रात्मक है। चाहे कुछ भी कहा जाय, उसके नेता सदस्यों द्वारा नियुक्त नहीं होते, वरन् केन्द्रीय समिति

---

१. डाक्टर अल्तेकर : वही, पृष्ठ १२७।

२. वही : पृष्ठ १२८।

द्वारा मनोनीत अथवा विनियुक्त होते हैं। सामान्य संघर्षशील सदस्यों से भिन्न ये नेता आपस में मिलकर एक शासक-वर्ग बना लेते हैं, जिनका सामान्य लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[1]

हम लोग देख चुके हैं कि दलों की आपसी होड़ से तिकड़म की सृष्टि होती है, राजनीतिक नीतिमत्ता का स्तर गिरता है तथा बेईमानी और कुचक्री प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

जब कि एकता की आवश्यकता होती है, तो ये दल कलह की सृष्टि करते हैं और जब मतभेद घटाने की बात आती है, उन्हें बढ़ाते हैं। दल बहुत बार अपने हितों को राष्ट्रीय हित से अधिक महत्त्व देते हैं।

यत: (चूँकि) सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण नागरिकों को प्रशासन में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता, इसलिए ये दल अथवा उनकी अन्तरंग समितियाँ जनता के नाम शासन करती हैं तथा जनता के मन में लोकतंत्र और स्वशासन की मिथ्या धारणा की सृष्टि करती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि दलीय प्रणाली में कुछ अच्छी बातें भी हैं। चूँकि पाश्चात्य लोकतंत्र इसके बिना चल नहीं सकता, अत: ऊपर जिन दुवर्गर का मत मैंने उद्धृत किया है, उनके सहित वे सारे लोग, जिन्हें इसका कोई विकल्प नहीं दिखायी देता, इसको ही ठीक मान लेते हैं और इसके दोषों को अपरिहार्य मानकर इसके गुणों की ओर संकेत करते हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं दलीय प्रणाली को नहीं, संसदीय लोकतन्त्र को ही मुख्य दोषी मानता हूँ, जिसके चलते दलीय प्रणाली का जन्म होता है। जिस सामुदायिक लोकतंत्र की मैंने ऊपर चर्चा की है, उसमें भी दल हो सकते हैं। किन्तु एक तो उनके झगड़े स्थानीय ढंग के होंगे, दूसरे उनका प्रभाव राज्य पर उतना नहीं होगा, जितना आज की संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत बन गये दलों का होता है।

(७) संसदीय लोकतंत्र का एक और दोष है, इसकी निर्वाचन-पद्धति, जो इसकी क्रियात्मकता के लिए आवश्यक है। पहली बात यह कि निर्वाचन की यह पद्धति बहुत ही व्ययसाध्य और अपव्यय से भरी हुई है। भारी-भरकम रकम खर्च होने का परिणाम यह होता है कि लोकतंत्र को एक प्रकार से आर्थिक हितवालों के हाथ या मजदूर-संघों जैसे बड़े-बड़े संघटनों के हाथ बन्धकस्वरूप रख देने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सामुदायिक प्रणाली की और इसकी इस दृष्टि से तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि पहली में चुनाव का कोई खर्च ही नहीं है।

चुनाव पर खर्च हुई भारी रकम से यदि कोई सार्वजनिक हित होता, तो वह भी सन्तोष की बात होती। किन्तु परिणाम उलटा हुआ है। आम

---

१. एम. दुवर्गर : वही।

निर्वाचन से अनावश्यक उत्तेजना और दुर्भावना पैदा होती है, जनता को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति तो होती नहीं, उसका मन बिगड़ता है। और सबसे बड़ी बात यह कि योग्य और भले आदमियों को चुनने के बजाय यह तिकडम-वाद को प्रश्रय देता है। इसे सभी लोग स्वीकार करेंगे कि नीतिविषयक बड़े-बड़े प्रश्नों पर शान्त-चित्त से और अनुत्तेजित स्थिति में विचार होना चाहिए, न कि दलीय हित की भावना से प्रेरित होकर। यही कारण है कि मैं मदेरियागा की इस बात से सहमत हूँ कि आम निर्वाचन की प्रथा समाप्त कर दी जानी चाहिए। निर्वाचित सदन सदा ही चालू रहने चाहिए, केवल समय-समय पर उसके कुछ सदस्य बदलते रहें।

◆ ◆

छठा अध्याय

समुदाय की अर्थ-व्यवस्था

समुदाय की अर्थ-व्यवस्था पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए यह स्थान उपयुक्त नही है। इसके लिए तो अलग प्रबन्ध ही आवश्यक है। फिर भी राज्य-व्यवस्था की चर्चा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक कि उसकी आधार-भूत अर्थ-व्यवस्था पर थोड़े में कुछ विचार न कर लिया जाय। मनुष्य की ही भाँति समाज भी बड़ा पेचीदा और अनेकांगी है। इसीलिए मानव और समाज दोनों के पुर्ननिर्माण के प्रसंग में समग्र दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। यही कारण है कि यद्यपि यहाँ मेरा उद्देश्य केवल सामाजिक जीवन के राजनीतिक पक्ष पर विचार करना है, तथापि मैंने सीमा का उल्लंघन कर अन्य पक्षो पर भी विचार किया है।

पश्चिमी विचारकों में काफी प्रबुद्ध एरिक फ्राम ने लिखा है : निश्चय ही मानव-जीवन के हर क्षेत्र में समग्र विकास की दृष्टि से उठाया गया एक कदम भी एकांगी विकास की दृष्टि से सुझाये गये—और कुछ समय के लिए भले ही उठाये गये—सैकड़ों कदमों भी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्पनाकारी है।[१]

(१) समुदाय की अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य समुदाय और उसके प्रत्येक सदस्य का हित-साधन है। उसका उद्देश्य समुदाय के अन्य लोगों के हितों की उपेक्षा कर किसी एक व्यक्ति को लाभ पहुँचाना नहीं हो सकता। समुदाय की अर्थ-व्यवस्था न तो शोषणमूलक है, न प्रतिद्वन्द्वितामूलक। इसका आधार सहयोग और साझेदारी है।

(२) समुदाय के लिए मानव का समग्ररूप ग्राह्य है, अतः उसके सर्वांगीण विकास के प्रति समुदाय की दिलचस्पी रहती है। इसी कारण समुदाय का जीवन सन्तुलित होता है, एकांगी नहीं। ऐसी स्थिति में समुदाय की अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य मानव-जीवन का सन्तुलित विकास होना चाहिए। यही कारण है कि समुदाय की अर्थ-व्यवस्था का आधार असीम आवश्यकताएँ नहीं हो सकता, जैसा कि वर्तमान समाज में है। अर्थशास्त्र का वर्तमान 'विज्ञान', जैसा कि डाक्टर शूमाखेर ने बताया है, सन्तुलित समाज-व्यवस्था में लागू नहीं हो सकता। इसके लिए अर्थशास्त्र के एक नये विज्ञान का विधान

---

१. एरिक फ्राम : दि सेन सोसाइटी, १९५६, पृष्ठ २७२। यह सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण अंश मैंने परिशिष्ट के रूप में उद्धृत किया है।

करना पड़ेगा। ऐसी नयी अर्थशास्त्रीय व्यवस्था का आधार गांधीजी और डाक्टर जे० सी० कुमारप्पा प्रस्तुत कर चुके है।

(३) समुदाय परिवार का विस्तृत रूप है। परिवार की ही भाँति यह जीवन के शाश्वत प्रवाह का प्रतिनिधि है। जिस प्रकार परिवार जीवित सदस्यों की हित-कामना से ही प्रेरित न होकर आनेवाली सन्तानो के बारे में भी सोचता है, उसी प्रकार समुदाय भी भावी पीढियो के कल्याण की बात सोचता है। इसीलिए इसकी अर्थ-व्यवस्था में अपव्यय के लिए स्थान नही है। यह इस बात के प्रति बराबर सावधान रहता है कि प्रकृति के नये सिरे से अप्राप्य साधन बरबाद न होने पाये, जब कि आज के तथाकथित समुन्नत राष्ट्र इन्हें बुरी तरह नष्ट करने का बड़ा भारी अपराध कर रहे हैं। भावी पीढ़ियों और जीवन [न कि मृत्यु] के प्रति दिलचस्पी रखनेवाली सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था इस बात का बराबर ध्यान रखेगी कि प्रकृति से जो कुछ लिया जाय, वह उसे लौटाया भी जाय। इसीलिए पुन प्राप्य साधनों के उपभोग पर यह यथासम्भव प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा करेगी और पुनरप्राप्य (जो लौटाये नहीं जा सकते) साधनों का उपभोग यथासम्भव कम करेगी। समुदाय की अर्थ-व्यवस्था प्रकृति के साथ सहयोग और मेल की होगी, जब कि आज की अर्थ-व्यवस्था, चाहे पश्चिम की हो या पूर्व की, प्रकृति के साथ निरन्तर विनाशकारी युद्ध की है। डाक्टर शूमाखेर का कहना है : वन्य अथवा कार्षिक पदार्थो-जैसे पुन.प्राप्य साधनों के आधार पर खड़ी की गयी सभ्यता निश्चय ही उस सभ्यता से श्रेष्ठ है, जिसका आधार तेल, कोयला, लोहा (धातु) जैसे पुनरप्राप्य साधन है। इसका कारण यह है कि प्रथम तो टिक सकती है और दूसरी नहीं। पहली प्रकृति के साथ सहयोग करती है, दूसरी उसे लूटती है। पहली में जीवन के लक्षण है, दूसरी में मृत्यु के। इसमें तनिक भी संशय नहीं कि 'तेल-कोयला-धातु-अर्थशास्त्र' का जीवन मानव-जाति के इतिहास में क्षणभंगुर ही रहेगा, क्योकि उनका आधार पुनरप्राप्य साधन है और यह भौतिकवादी होने से किसी प्रकार की सीमा का बन्धन नहीं मानता। अणुशक्ति के विकास का जो दानवी प्रयास चल रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक सभ्यतावादी अब इस बात को समझने लगे है और इसीलिए अपने हिंसात्मक तरीके से प्रकृति के साथ लड़कर वे किसी भाँति अपनी सभ्यता को बचा ले जाने की फिक्र में है। तेल और कोयले का स्थान ग्रहण करने के उद्देश्य से 'शान्ति के लिए' अणुशक्ति के अत्यन्त व्यापक विकास का जो कार्यक्रम चल रहा है, वह अणु और उद्‌जन बमों से भी कहीं अधिक त्रासदायक है। क्योंकि यहाँ अविवेकी मनुष्य ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने जा रहा है, जहाँ पहले से ही तख्ती टँगी है : दूर रहो।[1]

---

१. देखिये : परिशिष्ट 'क'।

(४) समुदाय की अर्थ-व्यवस्था जहाँ तक हो सके, आत्मनिर्भर होनी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के इस युग में आत्मनिर्भरता की बात बहुतों को ग्राम्य, पार्थक्यवादी और प्रतिक्रियामूलक लगेगी। किन्तु समुदाय की दृष्टि से यह अत्यन्त स्वाभाविक है। समुदाय का पहला काम है, अपने सदस्यो की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए साधन उपस्थित करना। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वह सदस्यो के लिए भोजन, वस्त्र, आवास तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करे। समुदाय का यह भी उत्तर-दायित्व है कि वह देखे कि समुदाय के प्रत्येक शारीरिक-सामर्थ्यसम्पन्न व्यक्ति को उपयुक्त धन्धा मिल पाता है। यदि समुदाय की आर्थिक गतिविधि सदस्यों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बद्ध और प्रेरित नही होती, तो समुदाय को राष्ट्रीय अथवा अन्तरराष्ट्रीय हाट की मर्जी पर रहना पडेगा, जिसके परिणामस्वरूप समुदाय में बेकारी और उसकी आर्थिक बर-बादी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। समाज की विकीर्णता के प्रश्न पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के चलते मानव ऐसे असहाय व्यक्ति की भाँति हो जाता है, जिसका अपनी शासक शक्तियों पर न कोई नियंत्रण होता है और न जिन्हें वह समझ ही पाता है। यही कारण है कि हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि समाज की संस्थाओं और प्रक्रियाओं को इस ढब ढाला जाय कि वे मानव के उपयुक्त हो सकें और मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं नियामक बन सकें। इस विचार-परम्परा का अनुसरण करते हुए हम जीवन के सामुदायिक स्वरूप पर पहुँच गये। यदि हम सामुदायिक जीवन तक पहुँचकर उलटे क्रम से पुनः चलना आरम्भ करें, तो बृहत् अर्थशास्त्र (Macro Economics) के सिद्धान्त के अनुसार ठीक वहीं पहुँच जायँगे, जहाँ से चले थे। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए यन्त्र-मानव बन जाने के अतिरिक्त और कोई गति न रह जायगी।

इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आर्थिक क्षेत्र में समुदाय को सर्व-प्रथम ऐसे कार्यो में लग जाना चाहिए, जो पूर्णतः उसके अधिकाराधीन हों। यह क्षेत्र है समुदाय की आवश्यकता के अनुसार ही उत्पादन की व्यवस्था करना। और यह उत्पादन प्रथमतः जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से होगा।

(५) प्रारम्भिक अथवा मुख्य आवश्यकताओ के अतिरिक्त समुदाय के जिम्मे और काम भी होंगे। कोई भी समुदाय अपने लिए आवश्यक सभी वस्तुओं का उत्पादन नही कर सकेगा। यहाँ तक कि प्राथमिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ भी सब समुदाय नही पैदा कर सकेंगे। हर सामग्री की दृष्टि से प्रत्येक समुदाय आत्मनिर्भर नहीं हो सकेगा। तब सवाल उठता है कि अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस विधि हो ?

समुदायवादी समाज का आर्थिक जीवन इस प्रकार सुव्यवस्थित रहेगा कि मानव-जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति जहाँ तक हो सके, निकटतम क्षेत्र-समुदाय से हो। इसकी सीढ़ी इस प्रकार रहेगी : प्राथमिक समुदाय, फिर क्षेत्रीय, जिला, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और अन्ततः अन्तरराष्ट्रीय। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक विस्तरणशील क्षेत्र, जहाँ तक सम्भव होगा, आत्मनिर्भर होता जायगा। इस प्रकार बहुत-सी शक्ति, जिसका अनावश्यक दुरुपयोग व्यापार और विज्ञापनादि की व्यवस्था में होता है, वह बच जायगी।

(६) इस तरह नियोजन का भी एक ढाँचा तैयार हो जायगा। नियोजन प्राथमिक समुदाय से आरम्भ होकर आगे बढ़ता चलेगा। हमारी योजना के अनुसार क्षेत्रीय नियोजन अर्थात् क्षेत्रीय समुदाय की आयोजना ही धुरी—आधार—का काम करेगी। ग्राम-समुदाय इतना छोटा होगा कि उसको आधार मानने से काम न चल सकेगा। क्षेत्रीय समुदाय ही वह इकाई होगी, जिसके आधार पर सम्पूर्ण राष्ट्र की आयोजना का ढाँचा खड़ा होगा। बड़े-बड़े असन्तुलित नगरों की अवस्थिति से सामुदायिक नियोजन पेचीदा हो जायगा। इसके लिए आवश्यक समन्वय की विधि बैठानी पड़ेगी। कस्बों को तो निश्चय ही क्षेत्रीय अथवा जिला-समुदाय के अन्तर्गत कर लिया जा सकता है, किन्तु शहरों की समस्या टेढ़ी है। इस सम्बन्ध में मैं पहले कह चुका हूँ कि जहाँ तक सम्भव होगा, बड़े-बड़े नगरों को पुनस्संघटित कर उन्हें समुदायों के संघ का रूप दिया जा सकता है।

(७) सभी प्राकृतिक साधनों पर समुदाय का स्वामित्व रहेगा। समुदायों में इनका विभाजन पारस्परिक समझौते से किया जा सकता है। सामान्यतया प्रत्येक समुदाय अपनी सीमा के भीतर पड़नेवाले प्राकृतिक साधनों का स्वामी होगा। किन्तु वन, खान आदि कितने ऐसे साधन है, जो काफी दूर तक फैले रहते हैं। इनका उपभोग पारस्परिक समझौते पर किया जायगा।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि समुदाय की होगी और प्रत्येक प्राथमिक समुदाय अपने क्षेत्र में पड़नेवाली भूमि का स्वामी होगा।

(८) भारी आर्थिक विषमता समुदाय की भावना से मेल नहीं खाती। एक सीमा तक ही आय और सम्पत्ति का अन्तर सहन किया जा सकता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए विनोबाजी एक बोधगम्य उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य के हाथ की पाँचों उंगलियाँ भी छोटी-बड़ी हैं, किन्तु उनकी यह छोटाई-बड़ाई विवेकसम्मत है। यही कारण है कि समान न होने पर भी वे एक साथ मिलकर काम कर सकती हैं। अगर यह छोटाई-बड़ाई काफी होती, अर्थात् एक उंगली कुछ इंच ही होती तथा दूसरी कुछ फुट, तो हाथ बिलकुल बेकाम हो जाता।

(९) समुदाय में श्रमिक की स्थिति प्रधान होगी, क्योंकि समुदाय के लिए श्रम ही सबसे प्रधान वस्तु है। श्रम अथवा कार्य के बिना समुदाय चल नहीं सकता। इसलिए समुदाय का प्रत्येक वयस्क निवासी श्रमिक अथवा कार्यकर्ता होगा। साथ ही श्रम 'मानवशक्ति [और सामर्थ्य] की सार्थक अभिव्यक्ति समझा जायगा, न कि निरर्थक प्रयास'; क्योंकि श्रम-प्रक्रिया में श्रमिक जिम्मेदार, साझेदार माना जायगा। आवश्यकता से अधिक विशेषज्ञता-प्राप्ति का प्रयास इसलिए त्याज्य समझा जायगा कि कहीं इससे श्रमिक का स्थिति यन्त्रवत् न हो जाय। बल्कि समुदाय का कार्षिक-औद्योगिक जीवन उसे विविध प्रकार की वृत्तियों का आश्रय लेने का अवसर प्रदान कर सकता है।

मदेरियागा ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक बात बतायी है। आपने लिखा है : "मैने एक दिन स्पेन के एक शैल्पिक-संघ के नेता से पूछा : 'आखिर श्रमिक चाहते क्या है ?' इस पर उसने उत्तर दिया : 'वे श्रमिक बनना नहीं चाहते।' और मै समझता हूॅ कि श्रमिक-समस्या का मूल यही है। ······· अपने हृदय के अन्तस्तल-प्रदेश में औद्योगिक श्रमिक यह अनुभव करता है कि उसका सभी प्रयास इसलिए नहीं है कि अपने वर्ग के लिए यह अथवा वह सुविधा प्राप्त कर ली जाय; वरन् इसलिए है कि उसका वर्ग रहे ही नही। उसका सहज ज्ञान उसे यह बताता है कि सामाजिक संस्था में श्रमिक-वर्ग कोई स्वाभाविक वर्ग नहीं है। यदि इस संस्था का रूप विकृत न होता, तो सामाजिक प्रकृति स्वयमेव श्रमिक-वर्ग जैसा कोई वर्ग पैदा न होने देती; मानव-समाज पर अर्थवाद और यन्त्रवाद द्वारा यह वर्ग लादने की गलती इसलिए की गयी कि कारखानों और शहरों में होते जा रहे [औद्योगिक] केन्द्रीकरण से निस्तार का कोई उपाय न था।" आगे इस प्रश्न का बड़े रोचक ढंग से ऊहापोह करने के पश्चात् अन्त में आप कहते है . सब कुछ कह और कर लेने के बाद श्रमिक की जीवन-पद्धति बदलने के लिए तीन प्रक्रियाओं की आवश्यकता है : उसके मन में अपनी सर्जनात्मक शक्ति का विकास करने के लिए रुचि हो तथा उसे इसका अवसर मिले; उसके श्रम में विविधता हो; वह पुनः प्रकृति के निकट लाया जाय। ये तीनों लक्ष्य इस विधि प्राप्त किये जा सकते हैं : उसका श्रम-दिन चार घण्टे का माना जाय; उसे रहने के लिए ऐसा घर दिया जाय, जिसमें उसके और उसके परिजनों के काम करने के लिए पर्याप्त भूमि हो, जिससे उस पर काम कर वह कारखाने की अपनी आय में वृद्धि कर सके। सैलवेडोर दि मदेरियागा गाँवों के पीछे पागल गांधीवादी भारतीय नहीं, वरन् आधुनिक यूरोपीय विचारक हैं, जो आक्सफोर्ड में रहते हैं। ऐसी हालत में मैं समझता हूँ, उनके कथन का महत्त्व भली-भाँति समझा जा सकता है।

(१०) उद्योग, वाणिज्य आदि की व्यवस्था पर भी कुछ विचार कर लेना समीचीन होगा। मैंने शुद्ध कार्षिक अथवा शुद्ध औद्योगिक व्यवस्था की तुलना में समुदाय के कार्षिक-औद्योगिक स्वरूप पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया है। मैंने नयी किस्म की प्रविधि पर भी जोर दिया है, जो मानव के साथ मेल खा सके।

जिस ढंग के सामाजिक संघटन और प्रविधि की यहाँ चर्चा की गयी है, उनके चलते अधिकांश औद्योगिक और आर्थिक संस्थान क्षेत्रीय अथवा जिला-समुदायों की सीमा में रहेंगे। कुछ संस्थान प्रान्तीय और राष्ट्रीय महत्त्व के भी हो सकते हैं।

(११) ये संस्थान निजी, सहकारी अथवा सामुदायिक स्वरूप के हो सकते हैं। प्राथमिक, क्षेत्रीय अथवा जिला-समुदायो में अधिकांश, हो सकता है बहुत बड़ा अंश, उद्योग और व्यापार स्वभावतः स्वामी-श्रमिक किस्म के होंगे। शेष सहकारी अथवा सामुदायिक स्वरूप के होंगे। कुछ संस्थान निजी स्वामी-श्रमिक किस्म के हो सकते हैं। प्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय उपक्रम सहकारी, सामुदायिक या निजी किस्म के होंगे।

(१२) सामुदायिक उपक्रमों के बारे में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। ये उपक्रम समुदायों द्वारा स्थापित होंगे और इनका संचालन या तो (१) इसी उद्देश्य से सम्बद्ध समुदायों द्वारा संघटित समितियों द्वारा श्रमिकों के पूर्ण सहयोग (साझेदारी) से होगा या (२) श्रमिकों द्वारा ही नियुक्त समितियों द्वारा होगा।

(१३) अन्य आर्थिक उपक्रमों की भाँति ही उद्योगों में भी स्वाधिकार (स्वशासन अथवा प्रबन्धाधिकार) सामुदायिक अर्थव्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त होगा। स्वामी-श्रमिक इकाइयों में यह प्रश्न उठता ही नहीं। उत्पादकों की सहकारिताओं के बारे में भी ऐसी कोई बात पैदा नहीं होती। किन्तु ऐसे धन्धों में; चाहे वे छोटे हों या बड़े, जिनमें स्वामी, प्रबन्धक, प्राविधिज्ञ और श्रमिक हों—इससे कोई मतलब नहीं कि स्वामी कौन है—सभी वर्गों की एक संयुक्त समिति संघटित की जायगी, जो उसकी आन्तरिक व्यवस्था चला सके।

(१४) वर्ग-संघर्ष का विचार ही समाज की सामुदायिक व्यवस्था तथा सामुदायिक भावना के लिए विरोधी एवं त्याज्य है। सामुदायिक भावना के लिए पारस्परिक हितों में संगति बैठाना आवश्यक है, जो तभी संभव है, जब कि सामुदायिक जीवन के मुख्य सिद्धान्तों—उचित साझेदारी और उत्तरदायित्व की स्वीकृति—को आधार मानकर चला जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि सामुदायिक जीवन-पद्धति में हड़तालों और ताला-

बन्दी के लिए स्थान नहीं रहेगा। नैतिक समस्याएँ उठ खड़ी होने पर असह्य स्थिति में असहयोग का मार्ग अपनाया जा सकता है।

(१५) स्वामित्व की दृष्टि से किसी किस्म का भी आर्थिक संस्थान हो, वह अपने प्रदेश के समुदाय में मिला दिया जायगा, अर्थात् उसका अंग होकर रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उसका संस्थापन और विकास समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर होगा। समुदाय द्वारा निर्धारित शर्तो पर ही वह काम करेगा; समुदाय के प्रति ही उत्तरदायी समझा जायगा।

इसका मतलब यह भी हुआ कि ये उपक्रम संघटन की दृष्टि से भी समुदाय के अंग होकर रहेंगे। प्राथमिक समुदाय में अंगीकरण में कोई कठिनाई न होगी, क्योंकि प्रत्येक संस्थान का सीधे-सीधे वहाँ के समुदाय में अंगीकरण हो जायगा। अन्य समुदायों में अंगीकरण की निम्नलिखित विधि कदाचित् उपयुक्त हो। इसमें प्रयोग के लिए काफी गुजाइश है।

प्रत्येक सामुदायिक खंड में (क्षेत्रीय, जिला आदि) प्रत्येक उद्योग अथवा अन्य प्रकार के व्यवसायों की किस्मों का संघटन ऐसे संघों के रूप में किया जायगा, जिनमें स्वामी-श्रमिक, अन्य प्रकार के श्रमिक और स्वामी, प्रबन्धक और विशेषज्ञ शामिल रहेंगे। मतलब यह कि प्रत्येक क्षेत्र, जिला, प्रान्त अथवा देश में विभिन्न प्रकार के संघ, जैसे मान लीजिये, लोहारों के, बढ़इयो के, तेलियों के या उनकी सहकारी संस्थाओं के, गल्ला-व्यापारियों के, कृषि-यंत्र बनानेवाले कारखानों के, बैटरी बनानेवाले कारखानो के रहेंगे।

ये संघ प्रत्येक सामुदायिक क्षेत्र में संघटित आर्थिक-परिषद् से संघबद्ध होंगे। इसी प्रकार की आर्थिक-परिषद् क्षेत्र, जिला, प्रान्त और देश के लिए भी हो सकती है। प्रत्येक समुदाय की आर्थिक-परिषद् [आर्थिक मामलों में] सम्बद्ध समुदाय की राज-नीति-संस्था को (पंचायत-समिति, जिला-परिषद् आदि) परामर्श देगी तथा उसमें परिषद् को प्रतिनिधित्व प्राप्त रहेगा ।

इन संघों और परिषदों को अपनी और अपनी सदस्य-संस्थाओं की गतिविधि संचालित करने के लिए नियमादि बनाने का अधिकार रहेगा । इसमें शर्त यही रहेगी कि इन नियमों का विरोध समुदाय के विधान अथवा नियमों से न हो। ये संघ और परिषदें आज के वर्णो के समान होंगी तथा इनके नियम वर्णधर्म के अनुसार होंगे।

(१६) निजी उद्योग-धन्धों का प्रश्न भी विचारणीय है । जहाँ तक पुरुषार्थ का भाव है, निजी उद्योगों के लिए समुदाय में काफी गुजाइश रहेगी। अन्य बातें छोड़ दीजिये, तो भी इसका एक विशेष कारण यह है—

और मदेरियागा ने बहुत अच्छी तरह इसे स्पष्ट कर दिया है कि 'सर्जनात्मक शक्ति राज्य की अपेक्षा व्यक्ति में कहीं अधिक होती है।' किन्तु समुदाय मे रहकर मनुष्य को समुदाय की भावना से चलना पड़ेगा। इसलिए सामुदायिक समाज में निजी उद्योग को भी उसकी भावना ग्रहण करनी पड़ेगी और निजी और सामुदायिक, दोनो हितों को साधने के लिए तत्पर रहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त निजी उद्योगों को यह बात भी स्वीकार करनी होगी कि स्वशासन, समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व तथा उसके साथ अंगीकरण का सिद्धान्त उन्हें मान्य है।

(१७) यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ये बातें संसद् द्वारा मान्य संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों और समाजवाद के आदर्शों के विरुद्ध नही पड़तीं? लेकिन इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि स्थिति ठीक इसके विपरीत है। मेरी दृढ़ मान्यता है कि जिस समाज की रूपरेखा ऊपर खींची गयी है, उसमें ही इन सिद्धान्तों और आदर्शों की चरितार्थता सम्भव है।

समाजवाद के बड़े-बड़े आचार्यों ने इसकी जो व्याख्याएँ की है, उनकी समीक्षा करने का यहाँ अवसर नही है। फिर भी थोड़े में उनके विचार जान लेना ठीक ही है। नीचे लिखे उद्धरण मैं एरिक फ्राम की पुस्तक से ही दे रहा हूँ।

आधुनिक समाजवादी विचारधारा का श्रीगणेश चार्ल्स फोरियर से होता है। फ्राम ने इनके विचारों को इस रूप में प्रस्तुत किया है: उद्योग के प्रत्येक क्षेत्र में स्थापित विश्वव्यापी एकाधिकारों का सफल मुकाबला करने के लिए वे उत्पादन और उपभोग के क्षेत्र में ऐसे सामुदायिक संघों को एकमात्र उपाय मानते है, जो स्वतंत्र और स्वेच्छाप्रेरित होगे और जिनमें व्यक्तिवाद स्वेच्छया समूहवाद के विरुद्ध संघबद्ध होगा। इस उपाय से ही एकानुरूपता का, मेल का तीसरा ऐतिहासिक स्वरूप सामने आयेगा, जो पहले के दोनों स्वरूपों, समाज-व्यवस्थाओं—वह जिसमें समाज दास और स्वामी के संबंधों पर आधारित था और वह जिसमें समाज श्रम-जीवियों और उद्योग-स्वामियों पर आधारित है—पर हावी हो सकता है।[1]

समाजवाद के दूसरे प्रधान व्याख्याता राबर्ट ओवेन के विचारों के सम्बन्ध में फ्राम ने लिखा है: एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि आवश्यक है, जिसमें लोगों को उन सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाय, जो उन्हें साथ मिलकर काम करने का अवसर दे और व्यक्ति-

---

१. एरिक फ्राम: वही, पृष्ठ २४९।

व्यक्ति के बीच वास्तविक सम्बन्ध स्थापित होने की प्रेरणा प्रदान करे। दो-दो हजार व्यक्तियों के तीन सौ यूथो का संघ संसारभर के लिए पर्याप्त है। प्रत्येक यूथ में और प्रत्येक सदस्य की सामूहिक सहायता के सिद्धान्त के अनुसार इनका संघटन किया जाना चाहिए। प्रत्येक समुदाय में स्थानीय सरकार को प्रत्येक व्यक्ति के साथ निकटतम संपर्क स्थापित कर काम करना चाहिए।[१]

मार्क्स की विचारधारा पेचीदा है। गांधीजी की भाँति ही लगता है, मार्क्स ने भी परस्पर विरोधी बातें कही हैं। मार्क्स की विचारधारा का विकास ऐसे समय हुआ, जब कि बड़ी-बड़ी सामाजिक, राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति चल रही थी। मार्क्स पर इनकी प्रतिक्रिया हुई है। उन्होने विचारों को समन्वित रूप देने की भी चेष्टा की, पर वह पूरी न हो पायी। इसका परिणाम यह हुआ है कि कभी तो मार्क्स केन्द्रीकरण के समर्थक दिखायी देते हैं, कभी विकेन्द्रीकरण के। कभी तो वे मानवतावादी लगते हैं और कभी प्राध्यक्ष (Commissar)। जो भी हो, यह सर्वविदित है कि पेरिस-कम्यून का मार्क्स की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व था। इसके सम्बन्ध में उनकी लेखनी ने जो कुछ प्रसव किया, वह बीजरूपात्मक था, जिसे समाजवादी विचारधारा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। एरिक फ्राम ने लिखा है : फ्रांसीसी गृहयुद्धसम्बन्धी इंटरनेशनल की जनरल कौन्सिल में मार्क्स ने निरंकुश राजतंत्र की व्यवस्था से उत्पन्न केंद्रीकृत राजसत्ता के बदले विकेंद्रीकरण पर जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि बहुलांशतः विकेन्द्रित समुदाय [की स्थापना होनी] चाहिए। थोड़े-से किन्तु मुख्य कार्य, जो केंद्रीय शासन के लिए छोड़ रखे जायें, वे सामुदायिक अधिकारियों के जिम्मे रहें। किन्तु ये अधिकारी पूरी तरह समुदाय के प्रति जिम्मेदार हों। .... उन्होंने कहा | समुदाय का संविधान [ऐसा होना चाहिए] कि समाज को वह सारी सत्ता मिल जाय, जिसे समाज पर पलनेवाले, किन्तु उसकी स्वतंत्र गतिशीलता पर अंकुश लगानेवाले राज्य की वृद्धिगत परोपजीविता [नित्य बढ़ता लोभ और शोषणवृत्ति] डकार गयी है। कम्यून में उन्हें अन्ततः वह राजनीतिक रूप प्रकट होता दिखायी पड़ा, जिसकी मदद से श्रमिक-वर्ग का आर्थिक स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तीव्रगति से आगे बढ़ सकता है।[२]

इधर हाल में, रूसी कम्युनिज्म और पश्चिमी यूरोप के शासकीय समाजवाद के आधार पर प्राप्त अनुभवों ने समाजवादी विचारधारा के

---

१. एरिक फ्राम : वही, पृष्ठ २५०।

२. वही, पृष्ठ २५७-५८।

समर्थक कुछ विचारकों को इस बात के लिए प्रवृत्त किया है कि समाजवाद के नये स्वरूप—साझेदारी के, मानवतावादी और सामुदायिक समाजवाद पर विचार किया जाय। एरिक फ्राम ने इस विचारधारा का सार इन शब्दों में व्यक्त किया है : आज मनुष्य के सामने बड़ी भारी समस्या यह उपस्थित है कि यन्त्र-मानव-वाद [पूँजीवादी हो अथवा कम्युनिस्ट] और मानवतावादी सामुदायिक समाजवाद मे से किसका वरण किया जाय। पूँजीवाद और कम्युनिज्म में से किसी एक के वरण करने का तो अब कोई प्रश्न ही नही रह गया है।[१]

मै यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि जिस सामुदायिक समाज का स्वरूप मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है, वह वही नहीं है, जिसकी कल्पना पाश्चात्य विचारको ने की है। पाश्चात्य समाज नगर-प्रधान है, इसलिए उस समाज में सामुदायिकता के सिद्धान्त लागू करना बहुत ही कठिन है। साथ ही हमारे देश में इसका जो रूप होगा, वह वहाँ नहीं हो सकता। सच तो यह है कि भारतीय समाज में सामुदायिक जीवन-पद्धति के विकास का सर्वाधिक सुयोग है।

◆◆◆

---

१. वही, पृष्ठ ३६३।

सातवाँ अध्याय

भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना

: १ :

अब तक जो विचार व्यक्त किये गये है, उन्हें एकत्र कर एकसूत्र में बाँधने का अवसर अब आ गया है। प्राचीन भारतीय विचार और परम्परा, मनुष्य की सामाजिक प्रकृति, समाज-शास्त्र (विज्ञान), सभ्यता के आचार और नीतिविषयक लक्ष्य, लोकतंत्र की यह माँग कि नागरिकों को सामाजिक जीवन के व्यवस्थापन और संचालन में हिस्सा मिले, मनुष्य को आत्मविरोध और यंत्रमानव की स्थिति से बचा लेने की आवश्यकता, राज्य और अन्य सामाजिक संस्थानो को मानवीय स्तर पर लाने की जरूरत तथा सबसे ऊपर यह आदर्श कि सभ्यता का केन्द्र मनुष्य को ही बनाया जाय---एक ही दिशा की ओर संकेत करते हैं। और वह दिशा है सामुदायिक अथवा समुदायवादी जीवन-पद्धति की; समुदायवादी नीतिशास्त्र और शिक्षण की; समुदायवादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संघटन की। इस प्रबन्ध में मैंने मुख्यतः समस्या के राजनीतिक पहलू पर विचार किया है और यह बताने का प्रयत्न किया है कि हमारे देश के लिए सर्वाधिक वांछनीय राजनीतिक संघटन अथवा राज्य-व्यवस्था का स्वरूप किस प्रकार का हो।

जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, इस राज्य-पद्धति का आधार स्वाधिकारप्राप्त (स्वशासनाधिकारयुक्त), आत्मनिर्भर, कार्षिक-औद्योगिक, नागर-ग्रामीण स्थानीय समुदाय होंगे। आज के गाँव और कस्बे इस प्रकार के पुनःसंघटन का स्थूल आधार प्रस्तुत करते है। ग्राम-पंचायतों की स्थापना कर तथा सामुदायिक विकास जैसे कार्यक्रम अपनाकर, खादी और ग्रामोद्योग-आयोग की ओर से 'प्रकृष्ट (गहन) क्षेत्र'-विकास का कार्यक्रम हाथ में लेकर एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सहकारात्मक रूप प्रदान कर इस दिशा में प्रशंसनीय श्रीगणेश किया जा चुका है। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन कार्यक्रमों में बड़े भारी दोष हैं : (१) इनमें अखण्ड, एकात्मक सामाजिक विचारधारा (दर्शन) का अभाव है; (२) इनमें समुदायविषयक कोई स्पष्ट धारणा नहीं है; (३) समुदाय के भीतर कृषि और उद्योग के बीच सन्तुलन स्थापित किये रखना इनका उद्देश्य नहीं है; (४) यद्यपि प्रारम्भिक अथवा आधारभूत स्तर पर लक्ष्य समुदायों की सृष्टि है—भले ही उसकी

कल्पना अस्पष्ट हो—तथापि उच्च स्तरों पर सामाजिक संघटन की विकीर्णता और उद्योगमूलक पश्चिम-प्रधान, जिसमें यहाँ रूस को भी शामिल समझना चाहिए, धारणा बनी हुई है।

आइये, अब हम इन दोषों पर अलग-अलग संक्षेप में विचार करें।

(१) यदि हम यह मान भी लें कि देश के विकास-कार्यक्रमों का संचालन करनेवाली विचारधारा एक ही है, तो उसके दो अंग हैं: (क) आर्थिक विकास से सम्बद्ध और (ख) लोकतंत्रात्मक समाजवाद से सम्बद्ध।

इस देश में आर्थिक विकास की जरूरत है, इससे कोई इनकार न करेगा। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या यह विकास पश्चिम [रूससहित] के ढंग का अनियंत्रित (निस्सीम) हो? हम अपनी अर्थ-व्यवस्था का विकास शक्तिसंचय के लिए करें या शान्ति और सुख के लिए? 'अर्थवाद' हमारे जीवन का शासन करे या समग्र मानव के विकास के लिए उसकी आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह समझ लेना जरूरी है कि इन विकास-कार्यक्रमों की प्रेरक सामाजिक विचारधारा वही है, जिस पर पाश्चात्य [रूससहित] समाज की भित्ति खड़ी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, उस विचारधारा का मेल सामुदायिक विकास और समुदायवादी सामाजिक व्यवस्था से नहीं बैठता।

जहाँ तक लोकतंत्रात्मक समाजवाद का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि विचारों में कोई स्पष्टता नहीं है। भले ही सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पश्चिम में लोकतंत्रात्मक समाजवाद का अर्थ है, राजकीय समाजवाद (शासकीय समाजवाद)। इसके पीछे यदि कोई विचारधारा है, तो वह है शीर्ष से कल्याणवाद की, न कि घर-घर में समाजवादी शैली की जीवन-पद्धति के विकास की। सामाजिक पुनस्संघटन का हमारा आदर्श यदि ऊपरी स्तर से समाजवाद या कल्याणवाद का विधान करना हो, तो आधार-स्तर पर समुदाय के विकास का न तो कोई सामाजिक महत्त्व रहेगा और न उसकी सफलता की कोई आशा की जा सकती है। आधार तथा ऊपरी ढाँचे में सदा ही विरोध की स्थिति रहेगी और चूँकि शीर्ष सर्वशक्तिसम्पन्न रहेगा—जैसा कि शासकीय समाजवाद में अनिवार्य है—अतः यह निश्चित है कि वह ऊपरी ढाँचा नीचे की जड़ खोद डालेगा। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सोवियत पद्धति का आरम्भ किसी-न-किसी रूप में सामुदायिक प्रणाली से ही हुआ था, किन्तु शीर्ष के शक्तिशाली हो जाने से आधार निःसत्त्व हो गया। आज सोवियत रूस म एक भी सच्चा सोवियत नहीं रह गया है; वहाँ आज केवल एक-तंत्रात्मक राज्य रह गया है।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ उपरि-अंकित समुदायवाद और सामाजिक विचारधारा के बीच विरोध की कोई स्थिति उत्पन्न होना जरूरी नही है। केवल इतना ही है कि ऐसी हालत मे समाजवाद को संस्थाओं में कम और मनुष्य में अधिक दिलचस्पी लेनी होगी। पहले की यह मान्यता कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनो पर राज्य का स्वामित्व और नियोजन समाजवाद की स्थिति लाने के लिए पर्याप्त है, मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। अन्तिम छोर तक पहुँचकर इस मान्यता ने ही स्तालिनवाद को जन्म दिया। किन्तु इस मान्यता को हटाकर उसका स्थान लेने के लिए किसी नयी मान्यता की सृष्टि नही की जा सकी है। इसके लिए समाजवादियो को प्राक्-मार्क्सकालिक समाजवादी आदर्शवादियों—विचारक अराजकतावादियों, ताल्सताय, रस्किन और मारिस तथा उत्तर-मार्क्स-कालिक सामाजिक आदर्शवादियो एवं गांधी और विनोबा की शरण में जाना होगा। फ्रांस के क्रियात्मक समुदायों (कम्युनिटी आव वर्क), इजराइल के किबुतजिम और भारत के ग्रामदानी गॉवो से हमारे समाजवादी बहुत कुछ सीख सकते है। मार्क्स में जो कुछ वैध बच रहा है, उससे तथा विज्ञान की अच्छी-अच्छी बातों से भी वे बहुत कुछ ग्रहण कर सकते है। इस कार्य के लिए व्यापक, विशद, नैतिक, बौद्धिक समन्वय की क्षमता अपेक्षित है। किन्तु यदि समाजवाद को उसकी पूर्व-प्रेरणा और आदर्शवाद के भरोसे फिर से खड़ा करना हो, तो यह काम समाजवादियों को करना ही पड़ेगा। लेनिन के कथनानुसार मार्क्स ने जर्मन-विचारधारा, फ्रांसीसी समाजवाद और ब्रिटिश अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का समन्वय कर अपनी उदात्त विचारधारा प्रस्तुत की थी। अब पुनः मार्क्स की ही कोटि के नैतिक और बौद्धिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता है, जो नयी विधि से सारी बातों का समन्वय कर समाजवाद का ऐसा स्वरूप उपस्थित करे कि वह भविष्य के लिए निष्ठा का विषय बन सके, न कि एक 'अस्तंगत वाद' के रूप में ढलकर रह जाय।

(२) समुदाय की कल्पना को मूर्त रूप देने की कोई चेष्टा नहीं है। यदि समुदायविषयक कोई धारणा है भी, तो वह 'कागजी काररवाई' तक परिमित है। इसका मुख्य कारण यह है कि समुदाय के विकास का कार्य उन वैतनिक राजकर्मचारियो को सौपा गया है, जिनके मन में इसके प्रति कोई निष्ठा नहीं है, जिनमें सूझ-बूझ का अभाव है और जो स्वयं किसी समुदाय से सम्बद्ध नहीं होते, किसी समुदाय के रहनेवाले नहीं होते। समाज के समुदायवादी स्वरूप की विशेषता यही है कि प्रत्येक नागरिक को किसी-न-किसी समुदाय से सम्बद्ध होना चाहिए। स्विट्जरलैंड में, जहाँ आज भी समुदायों का अस्तित्व है, प्रत्येक नागरिक का सम्बन्ध उस समुदाय से होता है, जहाँ का वह मूलनिवासी होता है। "प्रत्येक स्विट्जर-

लैंडनिवासी को तीन नागरिकताएँ प्राप्त रहती हैं : स्विस, कैंटोनल (प्रान्तीय) और सामुदायिक। समुदाय की नागरिकता का महत्त्व किसी से कम नही है। अन्य दोनों की भाँति ही यह अविच्छेद्य है। इसका सम्बन्ध परिवार से होता है और यह परिवार तथा वंशजो के साथ बराबर लगी रहती है, भले ही वे अन्यत्र जाकर बस गये हों। यह गृह-समुदाय ही स्विस के लिए अन्तिम गति (आश्रय) है।····नियमानुसार भी यह मूल (गृह)-समुदाय ही विपन्न स्विस की सहायता करने के लिए उत्तरदायी है, न कि [तात्कालिक] निवास से सम्बद्ध समुदाय।"[१]

समुदायों के सरकारी 'विकासकर्ताओं' के मन में सम्बद्धता की ऐसी कोई भावना नही होती। यह भी एक कारण है कि उनके प्रयास अधिक सफल नही होते। वैसे यह भी कह देना आवश्यक है कि यद्यपि भारतीय गाँव किसी रूप में समुदाय नहीं है, तथापि उनके निवासियो में आत्मीयता का भाव होता है और वे गाँव को अपना समझते हैं। यह भाव बहुत प्रबल भले न हो, किन्तु है अवश्य। सामुदायिक विकास-कार्यक्रमों और उनके संचालक अधिकारियों की कोई भी प्रवृत्ति इस भाव (चेतना) को विकसित और सबल बनाने की नही होती। ये कार्यक्रम समुदाय की भावना का विकास करने के बजाय कृषि और उद्योगों के विकास पर जोर देते है तथा स्कल, अस्पताल, सामुदायिक केन्द्र, सड़क आदि के निर्माण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। सामुदायिक भावना का विकास अपेक्षाकृत कठिन कार्य है; फिर भी यदि सामुदायिक विकास को सार्थक बनाना है, तो इसे ही करना पड़ेगा। इसके लिए समुदाय के स्वरूप का स्पष्ट चित्र खींचकर उसका प्रचार करना होगा—इसलिए नहीं कि सरकार को उसकी जरूरत है, वरन् इसलिए कि विकास-कार्य करनेवालों को वस्तुस्थिति और आवश्यकता का ज्ञान हो सके।

स्थानीय समुदाय का विकास इस ढंग से होना चाहिए कि वह छोटे-मोटे कल्याणकारी राज्य का रूप ग्रहण कर सके। प्रारम्भिक समुदाय होने से इसे प्राथमिक कार्यो—प्रत्येक परिवार के लिए धंधा और आवास की व्यवस्था, अन्न और वस्त्र की आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से उत्पादन का आयोजन, प्रारम्भिक शिक्षण एवं स्वास्थ्य-सेवाओं का प्रबन्ध—की जिम्मेदारी अपने सिर उठानी होगी। विपन्न और आवश्यकताग्रस्त लोगों की सहायता समुदाय का सबसे पहला कार्य होगा। समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह कहीं [समुदाय के बाहर भी] रहता हो, अपनी आय का एक अंश समुदाय द्वारा संचालित प्राथमिक सामाजिक सेवाओं के लिए देना होगा। समुदाय में रहनेवाले प्रत्येक परिवार को अपने कल्याण के

---

१. हैंस हर्बर : हाउ स्विट्जरलैंड इज़ गवर्न्ड, पृष्ठ १६।

लिए कार्य करते समय अन्य परिवारों के कल्याण की बात भी ध्यान में रखनी होगी। समुदाय की कल्याण-कामना और हित-साधन गाँव के आर्थिक साधनों और गतिविधियों का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। ये ही कार्य मुख्य रूप से सामुदायिक विकास की बात बताते है।

(३) सामुदायिक तथा अन्य ग्राम-विकास कार्यक्रमों से एक क्षण के लिए भी यह नही प्रकट होता कि किसी प्रकार के संतुलित कार्षिक-औद्योगिक समुदाय की भी कोई कल्पना है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रामोद्योगों का विकास किया जा रहा है, उनको बढ़ावा दिया जा रहा है; किन्तु उनका एकमात्र उद्देश्य बेकारी दूर करना और ग्रामीणों का जीवन-स्तर उठाना है। किसी नये सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को ध्यान में रखकर इन ग्रामोद्योगों का विकास नहीं हो रहा है; वरन् और सही बात कही जाय तो कह सकते हैं कि ध्यान में केवल वह विकीर्ण समाज है, जो शहरी और देहाती क्षेत्रों में बुरी तरह से बँटा हो और जिसमें शहरी क्षेत्र देहाती क्षेत्र के सिर पर चढ़ बैठा हो। सामाजिक पुनस्संघटन के इस सैद्धान्तिक पक्ष को छोड़ भी दीजिये, तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि समाजविषयक यह भावना कायम रही, तो भारत के गाँव स्थायी रूप से 'दलित' क्षेत्र बने रहेंगे।

(४) जहाँ तक इस दोष—ऊपरी स्तर पर पश्चिम-प्रधान सामाजिक संघटन की कल्पना—का सम्बन्ध है, ऊपर (१) नम्बर में इस पर अंशतः विचार किया जा चुका है। वहाँ यह बताया जा चुका है कि यदि ऊपरी ढाँचा व्यक्तिप्रधान हो, तो आधार-स्तर पर समुदाय के संघटन का कोई अर्थ नहीं है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में समुदाय का कोई भाव ही न रहेगा। और इसके बिना आधारभूत समुदायों का टिक पाना कदापि संभव न होगा।

एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट कर दूँ। राजनीतिक संस्थाओं को ही लीजिये। यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ग्राम-पंचायतों की स्थापना के पीछे जो उद्देश्य था, वह पूरा नहीं हो पाया है। वे उसके अनुरूप काम नहीं करतीं। इसके कई कारण हो सकते हैं, किन्तु मेरा निश्चित मत है कि इसका एक मुख्य कारण वर्तमान विकीर्णतामूलक राज्य-व्यवस्था का विभाजनात्मक प्रभाव भी है। इस बात का ठीक ही प्रयत्न किया जा रहा है कि यथासम्भव पंचायतों का चुनाव सर्वसम्मत हो और [राजनीतिक] दल उनमें अपनी नाक न घुसेड़ें तथा गाँव समुदायों के रूप में काम करें। लेकिन इसके साथ की ऊपर की सस्थाओ के चुनाव के समय ये ग्राम-समुदाय व्यक्तियों में विभक्त हो जाते है और ये व्यक्ति परस्पर विरोधी दलों का सहारा लेकर खड़े होते हैं। परिणाम यह होता है कि समुदाय खंड-खंड हो जाता है और पंचायतें उस कल्याणकारी ढंग से काम नहीं कर पातीं, जिसकी सभी लोग कामना करते है।

यही अवस्था आर्थिक तथा अन्य संस्थानों एवं गतिविधियों की है। उदाहरणस्वरूप, हमारी आयोजना गाँवों को आधार मानकर आरम्भ हो और ऊपर बढती चले, ऐसा नहीं है। यह ऊपर से आरम्भ होकर नीचे की ओर फैलती है। इससे समुदायो का विकास नहीं हो पाता, क्योकि उन्हें समुदाय के रूप में अपने लिए विकास-योजनाएँ बनाने का अवसर नहीं मिलता, ताकि वे स्तर-स्तर पर अपनी योजनाओं में सामंजस्य स्थापित कर सकें। राज्य-संचालित हो अथवा निजी, सभी आर्थिक सघटन शीर्षस्थ होते हैं। इनकी गतिविधि इस ढंग की होती है कि ये समुदाय के लिए कही बाहर से आये आक्रामक के रूप में सिद्ध होते है। इसका फल होता है सामुदायिक जीवन का विघटन और विश्रृंखलन। और यह ऐसे ही चलता जाता है।

: २ :

यहाँ तक तो वर्तमान सामुदायिक विकास-कार्यक्रम के दोषों की बात रही। अब हम पुनः भारतीय राज्य-व्यवस्था के आधार की ओर आते है। जैसा कि कहा जा चुका है, यह आधार होगा स्वाधिकारप्राप्त, आत्मनिर्भर, कार्षिक-औद्योगिक, नागर-ग्राम्य स्थानीय समुदाय। स्थानीय समुदाय की सर्वोच्च राजनीतिक संस्था होगी ग्राम-सभा; और सभी वयस्क निवासी इसके सदस्य समझे जायँगे। कार्य-पालिका अर्थात् पंचायत का चयन ग्राम-सभा के सभी सदस्यों की सहमति से होगा। कोई व्यक्ति किसी पद के लिए प्रत्याशी न होगा। सभी चयनात्मक पदों के लिए प्राचीन काल की भाँति ही स्पष्ट निर्धारित अर्हताएँ होंगी। निर्धारित अवधि के पश्चात् कोई भी व्यक्ति उसी पद पर प्रतिष्ठित न हो सकेगा। पंचायतों का कार्य विभिन्न उपसमितियों के माध्यम से होगा, जिनके काम बँटे रहेंगे। पंचायत या उसकी किसी उपसमिति में कोई अधिकारी या राज्य द्वारा नियुक्त अथवा नामजद सदस्य न रह सकेगा।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि विभिन्न जातियों और परस्पर विरोधी गुटों में बँटे ग्रामीणों में क्या कभी सहमति होना सम्भव है? किन्तु हम देख चुके हैं कि किस प्रकार दस-पाँच नहीं, हजारों वर्षों तक प्राचीन भारत के गाँवों में सबकी सहमति से कार्य-पालिका का चुनाव होता था। और वे गाँव किसी प्रकार भी एक राय के और आदर्श समुदाय नहीं थे। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं है कि शताब्दियों के अनुभव से पुनः लाभ नहीं उठाया जा सकता। यह बात भी स्मरण रखने की है कि ग्राम-परिषदों अथवा पंचायतों के चुनाव की एक ही और वैकल्पित विधि थी। और वह थी, गोटी डालकर चयन की। गोटी डालकर चयन करने को हम कोई अलोकतन्त्रात्मक ढंग नहीं मान सकते। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार दक्षिण

भारत स्थित उत्तर मेरूर के अग्रहार गाँव जैसे अत्यन्त विकसित, सुसंस्कृत और स्वशासित गाँवों मे यह व्यवस्था बहुत ही उत्तम ढंग से संचालित की जाती रही है। इसलिए मेरा यह सुदृढ़ मत है कि गाँवो को यह स्वतंत्रता मिलनी चाहिए कि वे चाहे सबकी सहमति से अथवा गोटी डालकर [अपने प्रतिनिधियों का] चयन कर सके या उनको इस विकल्प की सुविधा रहे कि पहले वे सहमतिवाला ढंग अपनायें और जब वह सफल न हो, तो गोटी डालनेवाली पद्धति पर चलें। भूदान में प्राप्त भूमि के वितरण के सिलसिले में भी इसी प्रकार का तरीका काम में लाया जाता है। जब भूमिहीन व्यक्ति किसी प्रश्न पर एक राय नहीं होते, तो समस्या गोटी डाल करहल की जाती है। आज तक हमारे देखने में यह बात नही आयी है कि इस प्रकार के निर्णयों से किसीको असन्तोष हुआ हो।

दूसरी शंका यह उठती है कि क्या आज की पंचायतें इस विधि काम कर सकती है ? पहली बात तो यह कि नवयुवको को सिखाने का इससे अच्छा कोई उपाय नहीं हो सकता कि उन पर जिम्मेदारी लादी जाय। दूसरी बात यह कि गाँवों को स्वशासित और आत्मनिर्भर इसी प्रकार बनाया जा सकता है कि उनको वास्तविक उत्तरदायित्व सौपा जाय। एक समय था, जब कि स्विट्जरलैंड के कम्यूनों की भाँति भारत के ग्राम-गणराज्यों की स्वतः सृष्टि हुई थी और स्विस-कम्यूनों की भाँति ही उन्हें सत्ता और अधिकार किसी केन्द्रीय सत्ता की कृपा से नही मिले थे। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में तो बहुत ही सुविचारित और साहसपूर्ण कदम उठाकर तथा उन्हें अधिकार सौंपकर और सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर ग्राम-गणराज्यों (समुदायों) की सृष्टि कर पाना सम्भव है। तभी भारतीय लोकतंत्र का आधार सुदृढ़ हो सकता है और सजीव कहा जा सकता है। मेरा खयाल है कि ग्रामसभाओं और पंचायतों को उन्हीं बातों का उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिए, जिनका वास्तविक महत्त्व है—जैसे, उनकी यह जिम्मेदारी हो कि गाँव का कोई भी व्यक्ति आहार, वस्त्र और आश्रय के बिना न रहने पाये; कोई भी बच्चा अशिक्षित न रह जाय; कोई भी निवासी प्राथमिक स्वास्थ्य-सेवाओं से वंचित न रहे। सभा और पंचायत की यह भी जिम्मेदारी होनी चाहिए कि जहाँ तक शीघ्र हो सके, गाँव अन्न-वस्त्र के मामले में आत्मनिर्भर हो जाय। इसके अतिरिक्त एक निर्धारित अवधि के भीतर, जैसे मान लीजिये पाँच वर्ष, यह व्यवस्था कर लेने की भी उनकी जिम्मेदारी होनी चाहिए कि गाँव का कोई भी निवासी जीविका-विहीन न रहने पाये और प्रत्येक परिवार की रहन-सहन का स्तर एक न्यूनतम निश्चित सीमा से तो डक ही जाय। और सच्चा स्वशासन तो वही है, जिसमे जीवन की मुख्य समस्याओं पर ध्यान दिया जाय।

कुछ समय तक ऊपर से गाँव की मदद करना जरूरी होगा। लेकिन

गाँव की जिम्मेदारी बहुत ही स्पष्ट रहनी चाहिए और मदद की यह माँग गाँव की ओर से होनी चाहिए तथा उसका स्वरूप स्पष्ट रहना चाहिए। साथ ही माँग के विवरण के साथ यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि गाँव को कितनी आवश्यकता है, कितने की पूर्ति गाँववालो के सामूहिक प्रयास से संभव है। किसी गाँव को तब तक सहायता न मिलनी चाहिए, जब तक कि वह प्रमाणित न कर दे कि अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के सिलसिले में वह इतना काम कर चुका है और इतना करने को तैयार है। बिलकुल आरम्भ में तो भले ऐसी सहायता राज्य से मिले, किन्तु आगे चलकर यह ठीक ऊपर के सामुदायिक संघटन (क्षेत्रीय समुदाय) से मिलनी चाहिए। सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बड़ी संख्या मे गाँवो में जाकर आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ाने और उसे व्यवहार मे लाने की विधि सिखाने का काम करना होगा।

: ३ :

जिस प्रकार के समुदाय की कल्पना यहाँ की गयी है, उस रूप में हमारे गाँव और कस्बे जब तक ठीक-ठीक ढल न जायें, तब तक हमे हाथ पर हाथ रखकर बैठे न रहना चाहिए। वरन् राज्य-व्यवस्था के विकास की हमारी सारी प्रक्रिया सभी स्तरों पर एक साथ आरम्भ हो जानी चाहिए। तभी यह किसी भी स्तर पर सफल हो सकती है।

राजनीतिक ढाँचे का दूसरा स्तर होगा, क्षेत्रीय समुदाय। जैसा कि पहले कहा जा चुका है बलवन्तराय मेहता दल के सुझावों के अनुसार यहाँ ग्राम-पंचायतों को मिलाकर पंचायत-समिति का संघटन करना होगा। अन्तर यही रहेगा कि इस समिति का स्वरूप और कार्य स्वायत्तताप्राप्त, स्वशासनाधिकारयुक्त समुदाय का-सा रहेगा—समिति को अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले सभी अधिकारो और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होगा। ऊपर हम बता चुके हैं कि किस प्रकार (Optimum) समुदायों को अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर रखनेवाली पंचायत-समिति देश के आर्थिक और राजनीतिक, विशेषकर नियोजन और विकास, जीवन में महत्त्व का स्थान ग्रहण कर लेगी।

पंचायत-समितियों के संघटन के सिलसिले में एक विशेष बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। समितियों का चुनाव ग्राम-पंचायतों द्वारा होगा, न कि उनके सदस्यों द्वारा। यहाँ कुछ लोग कह सकते हैं कि यह तो छह और आधा दर्जन में भेद बताने जैसी बात हुई। पर ऐसा है नहीं। यहाँ सामु-दायिक जीवन का एक विशेष सिद्धान्त आ उपस्थित होता है। संस्था के रूप में ग्राम-पंचायत ग्राम-समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है, न कि अपने

सदस्यों का । इसी प्रकार पंचायत-समिति ग्राम-पंचायतो की प्रतिनिधि संस्था है । अत. उसमें ग्राम-पंचायतों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, उनके सदस्यों का नहीं । नगर (म्युनिसिपल)-परिषदों और जिला (काउंटी)-परिषदो के आपसी सम्बन्धों की विवेचना करते हुए मदेरियागा ने लिखा है : एक साथ समवेत और संस्था (नगर-परिषद्) के रूप में संघटित नगर-पार्षद, जिला-परिषदो का चुनाव करने के उद्देश्य से, पुन. असंघटित अर्थात् पृथक्-पृथक् नही किये जा सकते । जैसे जिला नगर-पालिकाओं का संघातमक रूप है, वैसे ही जिला-परिषद् नगर-परिषदो का सघात्मक रूप है । इसलिए इसको चुननेवाली मतदाता-इकाइयाँ वे संस्थाएँ ही होनी चाहिए, जिनसे मिलकर यह बनी हो ।[1] (चिह्नित अंश लेखक के) ।

पिछले अध्याय में प्रस्तुत सामाजिक संघटन के ढाँचे के अनुरूप ही राजनीतिक ढाँचा भी मंजिल-दर-मजिल खड़ा किया जायगा ।[2] पंचायत-समिति के ऊपर की मंजिल होगी, जिला-परिषद् [चाहे उसको कोई भी नाम दिया जाय] । इसका संघटन पंचायत-समितियों को मिलाकर होगा । यहाँ भी समितियाँ ही अपने प्रतिनिधि चुनेंगी, उनके सदस्य नहीं । ये जिला-परिषदें भी अपनी क्षमता के सारे कार्य सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सत्ता और उत्तरदायित्व से संवलित रहेंगी ।

ठीक इसी ढंग से जिला-परिषदे मिलकर राज्य-विधान-सभा का संघटन करेंगी और राज्य-विधान-सभाएँ मिलकर लोक-सभा को अस्तित्व प्रदान करेंगी । इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर खड़ा राजनीतिक संस्थान नीचे के सभी संस्थानों का सम्मिलित एकात्मक रूप होगा ।

पिछले अध्याय मे हम देख चुके है कि जिस सामाजिक स्वरूप का हमने वर्णन किया है, वह गांधीजी की कल्पना के स्वरूप में मिलता-जुलता है ।

---

१. मदेरियागाः वही, पृष्ठ ६३ ।

नगर-परिषदों (यहाँ ग्राम-पंचायतों) के चुनाव के लिए मदेरियागा ने परिवारों को मतदाता-इकाई मानने का आग्रह किया है । सिद्धान्ततः मुझे उनका यह सुझाव मान्य है, किन्तु मैंने निर्वाचन के बदले सबकी सहमति से या गोटी डालकर चयन करने पर जोर दिया है । अतः मतदाता-इकाई क्या हो, यह प्रश्न ही निरर्थक है ।

२. जैसा कि पिछले अध्याय में भी बताया जा चुका है, इस ढाँचे का यह अर्थ न लगाना चाहिए कि ऊपर के संघटन नीचे के संघटन पर हावी रहेंगे । प्रत्येक स्तर पर सम्बद्ध संघटन स्वायत्तताप्राप्त रहेगा । ऊपर के संघटनों को शक्ति और सत्ता नीचे के संघटनों द्वारा इसलिए सौंपी जाती है कि वे ऐसे कार्य सम्पन्न कर सकें, जो नीचे के संघटनों के बूते के बाहर हैं ।

इसलिए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जिस राजनीतिक स्वरूप का यहाँ चित्रण किया गया है, वह भी गांधीजी के विचारो से मेल खाता है। लोगों को स्मरण होगा कि गांधीजी ने गोलमेज-सम्मेलन के अवसर पर परोक्ष निर्वाचन की प्रणाली अपनाये जाने पर जोर दिया था और अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कांग्रेस-सघटन का उदाहरण उपस्थित किया था। गांधीजी ने कहा था :

"केन्द्रीय विधान-सभा से मिलती-जुलती जैसी चीज काग्रेस महासमिति है और प्रान्तीय विधान-सभाओं की तरह की ही हमारी प्रान्तीय संस्थाएँ हैं। हमारा भी विधान-निर्माण का एक ढंग है और है प्रशासन की एक पद्धति। हमारी अपनी कार्य-पालिका भी है।·····मैं आपको बता दूँ कि अपने निर्वाचनों की व्यवस्था करने के उद्देश्य से उपनियमादि बनाने का हमारी प्रान्तीय संस्थाओं को पूरा अधिकार है। मुख्य बात, निर्वाचको की अर्हताएँ, बदलने का उन्हें अधिकार नहीं है, लेकिन और सब काम वे अपने ढंग पर कर सकती हैं। [करती है]।····केवल एक प्रान्त का उदाहरण देकर मैं इसे स्पष्ट कर दूँ। ग्राम-निवासी अपनी समितियो के लिए चुनाव करते हैं। ये ग्राम-समितियाँ तालुका-समितियों का और तालुका-समितियाँ जिला-परिषदों का और वे प्रान्तीय-परिषद् का चुनाव करती हैं। प्रान्तीय-परिषद् ही केन्द्रीय विधान-सभा [यदि कांग्रेस महा-समिति को यह नाम दिया जा सके] के लिए सदस्यों का चुनाव करती है।"[१]

आगे चलकर गांधीजी ने कहा : "मैंने आपके सामने योजना की रूप-रेखा भर रखी है। यदि आप इस पर ध्यान दें, तो यह पूरी हो सकती है। यदि हमें वयस्क मताधिकार मिलता है, तो कदाचित् हमें इससे हटकर उस ढंग की कोई पद्धति अपनानी पड़े, जिसका सुझाव मैंने आपको दिया है।·····इस योजना के अनुसार चुनाव पर प्रत्येक उम्मीदवार को जो बड़ी भारी रकम खर्च करनी पड़ेगी, वह दिल बैठा देनेवाली है। मैं तो इस कल्पना से ही थर्रा जाता हूँ कि किसी उम्मीदवार को चुनाव के पीछे पचास-साठ हजार से लेकर एक लाख तक की धनराशि व्यय करनी पड़े। मैं ऐसे एकआध मामले जानत हूँ, जिनमें उम्मीदवारों ने एक लाख तक रुपये खर्च किये हैं। संसार में सर्वाधिक निर्धन देश के लिए इसे अभिशाप ही समझना चाहिए"[२]

इस भाषण के बाद हुए विचार-विमर्श से पता चलता है कि अपनी योजना का ब्योरा वे स्पष्ट न कर सके, किन्तु इसके सैद्धान्तिक पहलू पर वे बराबर दृढ़ रहे।

---

१. दि नेशंस वायस, पृष्ठ १७-१८।

२. वही, पृष्ठ १८।

भारत के दो अन्य सपूतों ने भी इस प्रश्न पर बहुत पहले ही विचार कर एक योजना प्रस्तुत की थी। देशबन्धु चित्तरंजनदास और डाक्टर भगवानदास ने 'स्वराज्य की रूपरेखा' नाम से एक योजना १९२३ में देश के समक्ष रखी थी, जिसमें स्वराज्य के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार बताये गये थे :

इस योजना के मार्ग-दर्शक सिद्धान्त वे ही हैं, जिनके प्रति अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतवासियों की आस्था रही है और जिनकी चर्चा गया-कांग्रेस (दिसम्बर, १९२२) के अवसर पर दिये गये राष्ट्रपति के अभिभाषण में भी इन शब्दों में की गयी है :

सरकार बनाने की योजना कार्यान्वित करते समय इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है : (१) भारत की प्राचीन ग्राम-व्यवस्था के ढंग पर स्थानीय केन्द्रों का संघटन किया जाय; (२) इन ग्राम (स्थानीय)-केन्द्रों को मिलाकर एक के बाद एक बड़े क्षेत्रों का निर्माण किया जाय; (३) इन क्षेत्रों का क्रमिक और उत्तरोत्तर विकसित तथा एकीकृत रूप ही राज्य हो; (४) ग्राम-केन्द्र और उनसे मिलकर बने क्षेत्रीय केन्द्र व्यवहारतः स्वसत्तात्मक हों; (५) अवशिष्ट बच रहा नियंत्रण का अधिकार केन्द्रीय शासन के हाथ में रहे, किन्तु उसका प्रयोग भी अपवाद रूप से ही हो और इसके लिए उपयुक्त संरक्षण की व्यवस्था रहे, जिसमें स्थानीय केन्द्रों की स्वायत्तता पर कोई आँच भी न आये तथा वास्तविक एकीकृत राज्य के रूप में केन्द्रीय शासन (सरकार) का विकास भी हो सके। सामान्यतया ऐसे केन्द्रीय शासन का कार्य परामर्श देना ही होगा।[1]

और कुछ कहने के पूर्व मैं यह बता दूँ कि यह सारा विवेचन प्रस्तुत करने का उद्देश्य लोगो को यह समझा देना है कि यहाँ प्रश्न केवल स्थानिक स्वशासन अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष निर्वाचन का नहीं है। यह मान लेना गलत है कि यदि 'स्थानीय संस्थाओं' को कुछ अधिक अधिकार मिल जायँ या प्रत्यक्ष निर्वाचन की जगह परोक्ष निर्वाचन की प्रणाली प्रचलित हो जाय एवं सामाजिक ढाँचा जैसा-का-तैसा रह जाय, तो जिस राज्य-व्यवस्था की यहाँ चर्चा की गयी है, वह स्वयमेव अस्तित्व में आ जायगी। जिस राज्य-व्यवस्था पर यहाँ जोर दिया गया है, वह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न स्वरूपमात्र नहीं है, वरन् अभिनव संघटित सामाजिक व्यवस्था का सावयविक अंग है।

: ४ :

मेरा उद्देश्य यहाँ भारत का नया संविधान तैयार करना नहीं है। मेरी चेष्टा केवल सामाजिक तथा राजनीतिक संघटन के मूलभूत सिद्धान्तों और

---

१. सी० आर० दास और भगवानदास : आउटलाइन स्कीम आफ स्वराज, पृष्ठ ७।

सामान्य स्वरूप के विवेचन की रही है। फिर भी मूल प्रश्न का स्पष्टीकरण करने के प्रसंग में कुछ बातों के ब्यौरे पर विचार कर लेना जरूरी है।

आइये, पहले विभिन्न स्तरों पर कार्य-पालिका के संघटन की बात ही लें।

प्रारम्भिक सामुदायिक स्तर पर संघटित कार्य-पालिका पंचायत है। यह कार्य-पालिका अपने विभिन्न कार्य व्यक्तिगत सदस्यों को अथवा उप (लघु)- समितियों को सौंप सकती है।

क्षेत्रीय स्तर की कार्य- पालिका पंचायत-समिति है। इसका कार्य विभिन्न समितियों के माध्यम से होगा।

जिला-स्तर पर जिला-परिषद् कार्य-पालिका होगी, जिसका कार्य विभिन्न समितियाँ करेंगी।

प्रान्तीय समुदाय की प्रान्त-सभा समितियों की नियुक्ति करेगी, जो कार्य-पालिका के रूप में काम करेंगी और सभा के प्रति जिम्मेदार होगी।

इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र-सभा कार्य-पालिका की नियुक्ति करेगी, जो राष्ट्र-सभा के प्रति जिम्मेदार होगी।

प्रश्न उठता है कि विधान-निर्माण का कार्य कौन करेगा ? मेरी कल्पना के अनुसार प्रत्येक समुदाय को अपनी आन्तरिक व्यवस्था सम्पन्न करने के लिए नियम और विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए। शर्त यही है कि समान स्तर के समुदायों के हितों अथवा उच्च स्तर के समुदायों द्वारा निरूपित नियमों एवं विधानों के साथ उसका विरोध न पड़ता हो। उच्च-स्तरस्थ समुदाय अपने-अपने क्षेत्रों के लिए विधानादि बनायेंगे। शिक्षा और आर्थिक संघटनों जैसी अन्य सामुदायिक संस्थाएँ भी अपने लिए नियम बना सकती हैं।

ये समितियाँ आकार में लघु एवं कार्यात्मक होंगी और इन्हें विशेषज्ञों को विनियुक्त (को-आप्ट) करने का अधिकार होगा। ये विशेषज्ञ समितियों के साथ पूर्णरूप से सहयोग करेंगे, किन्तु इन्हें मत देने का अधिकार न होगा।

प्रत्येक समिति का एक सभापति और एक सचिव होगा। किन्तु अपने पद के साथ संलग्न कार्यों का सम्पादन करने के अतिरिक्त वे किसी प्रकार के विशेषाधिकार अथवा सुविधा का उपभोग न कर सकेंगे।

प्रत्येक समिति सीधे-सीधे साधारण सभा के प्रति उत्तरदायी होगी, जो उसकी नियुक्ति करेगी।

विभिन्न समितियों के कार्यों में सहयोग और सामंजस्य की स्थिति उत्पन्न करने के लिए एक सामंजस्य-समिति होगी, जिसका संघटन प्रत्येक समिति से लिये गये एक-एक व्यक्ति के द्वारा होगा। समितियों के ये प्रतिनिधि उनके सभापति, सचिव या सदस्यमात्र ही हो सकते हैं। इसका निश्चय सम्बद्ध

समिति समय-समय पर किया करेगी। सामंजस्य-समिति का निर्णय मानना सभी समितियों के लिए अनिवार्य होगा।

जिला-स्तर तक सामंजस्य स्थापित करनेवाली समितियाँ होंगी : पंचायत, पंचायत-समिति तथा जिला-परिषद्, जिनकी बैठकें निर्धारित अवधि के अन्तर से हुआ करेंगी।

सभी समितियों की जिम्मेदारी सामूहिक होगी।

प्रातिनिधिक सामुदायिक संस्थाओं की बैठकें निर्धारित अवधि पर हुआ करेंगी, किन्तु समितियो की बैठकें बराबर ही होंगी।

नीतिविषयक प्रश्नो का निर्णय सम्बद्ध प्रतिनिधि-सभा किसी समिति अथवा सदस्य के प्रस्ताव पर करेगी और समितियाँ इन नीतियों को कार्यान्वित करेंगी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर पर आज के समान मंत्री, मुख्यमंत्री और प्रधानमत्री न रहेंगे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, शासन का कार्य प्रातिनिधिक संस्थाओं की समितियाँ करेंगी। प्रधानमंत्री अथवा मुख्यमंत्री के पद, जिनके कारण व्यक्ति-विशेष के हाथ में अत्यधिक शक्ति और सत्ता आ जाती है, अलोकतंत्रात्मक है तथा सर्वसत्तावाद के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश इनसे हो जाती है। इनका एक बड़ा भयानक परिणाम यह भी होता है कि 'वीर-पूजा' तथा 'व्यक्ति-पूजा' की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

विभिन्न प्रतिनिधिमूलक सामुदायिक संस्थाओं के अध्यक्षों के जिम्मे कोई प्रशासनात्मक कार्य न रहेगा। किन्तु वह यह देखते रहने के लिए जिम्मेदार होगा कि जिस प्रातिनिधिक सस्था का वह अध्यक्ष है, उसका कार्य नियमानुसार सम्पन्न होता है। साथ ही सम्बद्ध समुदाय की लोकतांत्रिक व्यवस्था भंग हो जाने की स्थिति में उसे असाधारण संकटकालिक अधिकार प्राप्त रहेंगे।

उपर्यकित अनुच्छेद में वर्णित अधिकारों के अतिरिक्त राष्ट्र-सभा का अध्यक्ष सेनाओं का भी प्रधान होगा और राष्ट्र की प्रतिरक्षा के लिए सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। उसकी सहायता के लिए एक प्रतिरक्षा-समिति रहेगी, जिसका वह सभापति होगा।

प्रशासन-कार्य का संचालन करने के लिए समितियों के अधीन वेतनभोगी असैनिक कर्मचारी रहेंगे। प्रत्येक स्तर पर इन कर्मचारियों की नियुक्ति इसी कार्य के लिए संबद्ध प्रतिनिधि-संस्था द्वारा संघटित तत्स्थानीय सत्ता द्वारा निर्धारित शर्तों पर होगी। कर्मचारियों की नियुक्ति अथवा पदच्युति समुदायों का सर्वोपरि अधिकार होगा। प्रारम्भिक सामुदायिक स्तर पर काम करनेवाले कर्मचारी अवैतनिक अल्पकालिक अथवा पूर्णकालिक

स्वयंसेवक भी हो सकते है। उच्च स्तरों पर भी अवैतनिक कर्मचारी नियुक्त किये जा सकते है।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संघटन का स्वरूप विकेन्द्रित होने से प्रशासन शीर्षप्रधान न होगा और न होगा आज की भाँति सामान्य जन के लिए दूरस्थ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे देखते हुए आज की एक अत्यन्त गुरुतर समस्या—नौकरशाही और भ्रष्टाचार—की ओर भी एक मिनट के लिए ध्यान दे लेना उपयोगी होगा। कुछ लोग यह मानते है कि भ्रष्टाचार दूर करने का एक उपाय अधिनायक-तंत्र है। लेकिन नौकरशाही की समस्या का हल अधिनायक-तंत्र भी नहीं है। परन्तु हम तो यह मानते है कि अधिनायक-तंत्र शासन की अन्य किसी भी प्रणाली की अपेक्षा नौकरशाही को अधिक तीव्र गति से जन्म देता है और अपने को बनाये रखने के लिए उसे सर्वाधिक शक्तिशाली बना देता है।

जहाँ तक भ्रष्टाचार का प्रश्न है, साधारणतया लोग यह नहीं समझ पाते कि अधिनायक-तंत्र में बहुत ही बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार चला करता है; केवल उसका रूप बदल जाता है। घूसखोरी तथा इसी प्रकार के भ्रष्टाचार के बजाय मिथ्या भाषण, छल-प्रपंच, षड्यन्त्र, आतंक, मानव-मन की दासता, मानव-प्रतिष्ठा का हनन आदि रूपों में और अधिक बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार चल पड़ता है। और ये सब घूसखोरी आदि की अपेक्षा कहीं अधिक मानव-जीवन को भ्रष्ट करनेवाले है।

नौकरशाही और आचरण-भ्रष्टता दोनों के निराकरण का एक ही सही मार्ग है, जनता का प्रत्यक्ष शासन एवं सरकारी कर्मचारियों के कार्यो का जनता तथा उसके द्वारा चुनी गयी संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष और तात्कालिक निरीक्षण तथा नियंत्रण। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, प्रारम्भिक समुदायों में वैतनिक सरकारी कर्मचारियों की जरूरत नहीं है। उससे ऊपर के बड़े समुदायों में ये कर्मचारी सम्बद्ध सामुदायिक संस्था के प्रत्यक्ष नियंत्रण और निरीक्षण में रहेंगे।यह तो समुदायों के लाभ की बात होगी कि वे प्रशासन-व्यय जहाँ तक हो सके, कम रखें। ऐसी हालत में स्वभावतः नौकरशाही की बढ़ती पर अंकुश लगा रहेगा। इस प्रकार जैसे-जैसे स्वशासन की योजना विकसित होती जायगी, वैसे-वैसे सरकारी कर्मचारी या तो अनावश्यक होते जायँगे या वे तात्कालिक निर्वाचित संस्था के अधीन रहेंगे।

इसमें एक खतरा हो सकता है। यदि सामुदायिक प्रातिनिधिक संस्थाएँ और उनके सदस्य स्वयं भ्रष्ट हो जायँ, तो भ्रष्टाचार पर किस प्रकार अंकुश लगे? मैं यह मानता हूँ कि प्रारम्भ में इसकी बहुत कुछ सम्भावना है, किन्तु मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि यह स्थिति देर तक चलेगी।

अगर जनता पर वस्तुत. पूरी जिम्मेदारी रहे और वह अनुभव करे कि अपना प्रबन्ध करने के लिए उसने गलत आदमियो को चुन रखा है तथा इन लोगों के चलते ही उस पर सारा संकट आ गया है, तो जनता, उसके प्रतिनिधियों और सरकारी कर्मचारियों के गहरे सम्बन्धों को देखते इस दोष का परिहार कर पाना जनता के लिए बहुत कठिन बात न होगी।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि प्रतिनिधियों और सरकारी कर्मचारियों की योग्यताओ पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। डाक्टर भगवानदास ने 'आउटलाइन स्कीम ऑफ़ स्वराज' में पूरा एक खण्ड ही विधायकों की योग्यता के वर्णन में लगाया है। मेरे विचार से उनका मत गंभीरतापूर्वक विचारणीय है। किसी भी हालत में यह तो स्मरण ही रखना चाहिए कि अन्ततः जनता का सद्विवेक ही इस बात का प्रतिभूत्व कर सकता है कि उसके प्रतिनिधि और सेवक सदाचरणशील व्यक्ति हों।

इस प्रबन्ध में इस प्रश्न पर विचार करना संभव नही है कि प्रशासन के कौन-से विभाग किस समुदाय को सौपे जायँ। मैंने सिद्धान्त रूप से यह बात बतायी है कि प्रत्येक समुदाय को अपनी प्रकृत सामर्थ्यभर सब काम करने का अधिकार होना चाहिए। वैसे आज जनता में आम तौर से अकर्मण्यता की स्थिति है। इसलिए उसके प्रकृत अधिकार की बात कह देने से ही काम नहीं चलेगा। शक्ति और सत्ता 'ऊपर' से उसे प्रदान करनी पडेगी। मै तो इस हद तक जाने को तैयार हूँ कि समुदायों को यथासम्भव अधिकतम सत्ता और अधिकार दे दिये जायँ। इनमें कुछ का उपयोग ही नही हो सकता और कुछ का दुरुपयोग भी हो सकता है। लेकिन जनता इससे सीखेगी तो सही और उसे सिखाने का काम सेवाभाव से सामाजिक कार्य करनेवालों का होना चाहिए।

इसलिए मेरा सुझाव है कि पुलिस, न्याय, कर-विधान, कर-संग्रह, सामाजिक सेवाएँ, आयोजना आदि सबको, जहाँ तक हो सके, विकेन्द्रित कर दिया जाय। जैसे-जैसे लोग सीखते जायँगे और उनमें आत्मविश्वास का भाव आता जायगा, वैसे-वैसे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया ऊपर से आरम्भ होने के बजाय सामान्य रूप ग्रहण कर लेगी और नीचे से चलने लगेगी।

: ५ :

जिस प्रकार के राजनीतिक स्वरूप की यहाँ परिकल्पना की गयी है, वह एक दिन में सामने नहीं आ सकता। और बातें छोड़ दीजिये, तब भी एक कारण तो यही है कि पहले आधार तैयार करना होगा और तब सोपानवत् यह धीरे-धीरे आगे बढ़ता जायगा। इसके साथ ही आर्थिक ढाँचा भी

खड़ा करना पड़ेगा। इसमे समय लगेगा, अतएव निश्चय ही संक्रमण की अवधि आयेगी।

देश के बहुत बड़े भाग में ग्राम-पंचायतों की स्थापना की जा चुकी है। अब उन्हें इस प्रबन्ध मे सुझाये गये सिद्धान्तो के अनुरूप फिर से ढालना है।

इसके बाद का काम होगा, पंचायत-समितियों का संघटन। राजस्थान में इसका श्रीगणेश भी हो चुका है। लेकिन उसके पीछे जो भावना है, उसमे भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

पंचायत-समितियों के संघटन के बाद जिला-परिषदों का सघटन करना पड़ेगा।

साथ-ही-साथ आर्थिक संस्थाओ को भी संघटित करते जाना होगा।

नियोजन और शिक्षण की पद्धतियों को नये ढर्रे पर ढालना होगा।

ग्राम-पंचायतों के सदस्यों के चयन के लिए मैंने सबकी सहमति या गोटी डालने की बात पर जोर दिया है। स्वभावतः इस प्रक्रिया में राजनीतिक दलों के लिए नाक घुसेड़ने की कोई बात ही नहीं रह जाती। वैसे आज की प्रणाली में भी देश के बड़े-बड़े दो राजनीतिक दलों ने ग्राम-पंचायतों के लिए अपने दलीय उम्मीदवार न खड़े करने का निश्चय कर दिया है। मेरा प्रस्ताव है कि अभी प्रारम्भ की दृष्टि से यह सिद्धान्त विधानतः जिला-परिषदों के क्षेत्र तक लागू कर दिया जाय। परोक्ष निर्वाचन-पद्धति के अन्तर्गत जब कि प्रारम्भिक निर्वाचन इकाइयो—ग्राम-पंचायतों—का स्वरूप निर्दलात्मक है, तो इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं दिखायी देती कि पंचायत-समितियों और जिला-परिषदों को दलों का अखाड़ा बनने दिया जाय। दूसरी बात यह है कि दलवाद समुदाय की भावना के विरुद्ध पड़ता है। हम जिस प्रकार के समुदाय की सृष्टि करना चाहते हैं, उसकी भावना से तथा समाज के जीवन में सुसंगति लाने के प्रयास की प्रक्रिया से दलवाद बिलकुल ही मेल नहीं खाता। यह असम्भव नही है कि सारे देश में हमारे जिला-स्तर तक पहुँचने के पूर्व ही १९६२ का आम चुनाव आ टपके। यदि समुदायवादी राज्य-व्यवस्था को हम अपना लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं, तो हमारे लिए ऐसे उपाय कर लेना आवश्यक होगा कि आम चुनाव हमारे मार्ग का रोड़ा नहीं बनता और हमारी गति कुंठित नहीं कर देता। इसमें सन्देह नहीं कि यदि राजनीतिक दल सदा की ही भाँति चुनाव के अखाड़े में आ डटेंगे, तो प्रत्येक गाँव राजनीतिक दृष्टि से पुनः विखण्डित और छिन्न-भिन्न हो जायगा और सामुदायिक विकास के कार्यक्रम को इससे गहरी ठेस लगेगी। दलहीन आधार पर निर्वाचित पंचायत-समितियाँ और जिला-परिषदें पुनः दलीय गुटों में विभक्त हो जायँगी और निष्पक्ष दृष्टि से समुदाय की सेवा का उनका

प्रयास तो विफल ही हो जायगा, सुसंगत सामुदायिक संस्था के रूप मे उनका अस्तित्व भी न रह पायेगा।

किन्तु दलीय प्रणाली के जारी रहते दल बने ही रहेंगे, जिनका मुख्य उद्देश्य होता है चुनाव लड़ना। तब ऐसी स्थिति में एक प्रकार का समझौता कर लेना पड़ेगा।

इस सिलसिले में पहली बात यह कि सब दल मिलकर तय कर लें कि जहाँ कहीं भी ग्राम-पंचायतों, पंचायत-समितियों और जिला-परिषदों का संघटन होगा, वहाँ चुनाव न लड़े जायँगे।

उपर्युक्त निर्वाचन-मंडलों का अस्तित्व न होने के कारण वैयक्तिक मतदाता ही इन चुनावों में भाग लेंगे। समझौते के रूप मे मेरा यह प्रस्ताव है कि बजाय इसके कि विभिन्न दल अपनी ओर से उम्मीदवार खड़ा करें, मतदाता ही यह कार्य करें। करीब एक वर्ष हुआ, मैंने इसी ढंग का एक सुझाव संसद्-सदस्यों के सामने—२३ सितम्बर, १९५८ को उनके समक्ष किये गये भाषण में—रखा था। उस भाषण में मैंने कहा था :

"मान लीजिये, किसी निर्वाचन-क्षेत्रके अन्तर्गत ३०० मतदान-केन्द्र है और प्रत्येक मतदान-केन्द्र के अन्तर्गत औसतन २ हजार मतदाता है। निर्वाचन के पूर्व उम्मीदवार खड़ा करने के उद्देश्य से प्रत्येक मतदान-केन्द्र के मतदाताओं की सभा मतदान-स्थल पर ही नहीं, किसी सुविधाजनक स्थान पर की जाय। इस सभा में मतदाता आपस में राय करके अपने दो प्रतिनिधि चुनें। यूगोस्लाविया में ऐसा ही होता है। यह आवश्यक नहीं है कि दो ही प्रतिनिधि हों। न्यूनाधिक भी हो सकते हैं। मैंने तो एक सुझाव दिया है। इन प्रतिनिधियों का चुनाव सामान्य लोकतंत्रात्मक विधि से बहुमत द्वारा किया जाय। इसके बाद तीन सौ मतदान-केन्द्रों के छह सौ प्रतिनिधियों का सम्मेलन हो और यहीं उम्मीदवारो का मनोनयन हो। इस प्रकार का कोई नियम बन जाना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसीके नाम का प्रस्ताव और समर्थन कर सकता है। इस नियम के अनुसार यह व्यवस्था हो कि कोई भी व्यक्ति, यदि ३०,४० या इससे अधिक या और किसी भी निर्धारित संख्या में मतदाताओं के प्रतिनिधियों का प्रतिशत मत प्राप्त कर लेता है, तो वह निर्वाचन में उम्मीदवार हो सकता है। प्रतिनिधियों द्वारा उम्मीदवारों के चयन के पूर्व कोई दल मैदान में न आये और न यह आग्रह करे कि अमुक व्यक्ति को उम्मीदवार चुना जाय। किसी व्यक्ति के नाम का प्रस्ताव किये बिना ही दलों को चाहिए कि वे जनता को यह बतायें कि किस ढंग के व्यक्ति मनोनीत किये जायँ एवं किस प्रकार की कार्षिक-औद्योगिक, परराष्ट्रीय तथा और भी विविधविषयक नीति एवं कार्यक्रम देश के लिए उपयुक्त हैं। दल जनता को केवल शिक्षित करने का

काम करें। यदि इस ओर ही दल ध्यान दें, तो उनके लिए समाज-सेवा का कम प्रशस्त क्षेत्र नहीं है। और यह कार्य मनोनयन के पूर्वकाल मे होना चाहिए। हमारे यहाँ दलीय पद्धति है, इसलिए मनोनयन के बाद हमें आपस म एक प्रकार का समझौता कर लेना चाहिए।····मान लीजिये कि मतदाताओ के प्रतिनिधियो ने तीन या चार उम्मीदवारों का मनोनयन किया है, तो दलों को इन्हीमें से किसी-न-किसीको अपना उम्मीदवार घोषित कर उसे ठीक उसी तरह पूरा समर्थन प्रदान करना चाहिए, जिस प्रकार कि दल व्यक्ति-विशेष के लिए करते है। ये उम्मीदवार जनता के होंगे। इनको निर्वाचन-क्षेत्र के लोगों ने खड़ा किया है, न कि किसी दल की अन्तरंग समिति ने, चाहे वह स्थानीय हो या राज्य की या सारे देश की। वे लोगों द्वारा मनोनीत होते है। इसके बाद निर्वाचन के समय इन्हींके नाम जनता के सामने जायेंगे और इन्हीमें से वह चुनाव करेगी। मै समझता हूँ कि यदि इस प्रणाली का अवलम्बन किया जाय, तो दलीय पद्धति के बहुत-से दोष दूर हो सकते है। बहुत संभव है, इस प्रकार लोकतंत्र की एक नयी प्रणाली हमारे सामन आये।"

निर्वाचन के बाद सम्बद्ध विधान-मंडल के सदस्य बहुमत द्वारा अपने लिए एक नेता चुनें। यही प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री होगा और वह अपना मंत्रिमंडल संघटित करेगा।

यह सुझाव केवल संक्रमण-काल के लिए है। जिस नयी राज्य-व्यवस्था का चित्रण ऊपर किया जा चुका है, उसे ध्यान में रखते हुए और भी कोई विधि अपनायी जा सकती है।

: ६ :

भारत के लिए [उपयुक्त] राज्य-व्यवस्था तथा सामान्य रूप से पूरे समाज के संघटन का चित्र यहाँ खींचा गया है। सम्भव है, इसे कुछ लोग आदर्शवादी मानें। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, तो भी मै उसे अयोग्यता की कोई बात नहीं समझता। आदर्श कोरा आदर्शवाद नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि क्या आदर्श अव्यवहार्य, अवैज्ञानिक और गलत धारणाओं पर आधारित है? पिछले पृष्ठों में मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सभी तर्कसंगत विचार इसी ओर प्रेरित करते हैं।

वैसे इस आदर्श तक पहुँच पाना हँसी-ठट्ठा नहीं है। यह बहुत ही कठिन और श्रमसाध्य कार्य है, जिसे पूरा करने के लिए हजारों-लाखों समाज-सेवियों की निरन्तर कई वर्षों तक आवश्यकता पड़ेगी।

शासन को इस कार्य में पूरा सहयोग प्रदान करना चाहिए। किन्तु यह स्मरण रखना एकदम जरूरी है कि काम का मुख्य भार राजनीतिक और

सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं पर ही पड़ेगा। समस्या का गुर है सामुदायिक भावना की सृष्टि, जिसके बिना राजनीतिक काया निष्प्राण ही रहेगी। यह कार्य जनता मे नैतिक-शक्ति और साहस भरने का है, जो उदाहरण, सेवा, त्याग और प्रेम से ही संभव है। समाज में, राजनीति मे, व्यवसाय में, नौकरियों में जो लोग शीर्ष-स्थानों पर प्रतिष्ठित है, उन पर जनता को अपने उदाहरण से शिक्षित करने एवं उसका नयन करने का बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ पड़ा है।

यह कार्य सामाजिक संघटन का भी है, जिसके लिए राज्य की, विज्ञान-वेत्ताओं की, विशेषज्ञों की, शिक्षाविदों की, व्यवसायियों की, प्रयोगकर्ताओं की, प्रत्येक नर-नारी की, बाल-जरठ की, सबकी सहायता [और सेवा] अपेक्षित है।

यह कार्य है समर्पण का, सृष्टि का और आत्मशोध का।

यह कार्य भारत के भाग्य का निर्माता है। भारत-जननी की सन्तान के लिए यह आह्वान है। क्या वे यह पुकार सुनेंगे ?

◆ ◆ ◆

परिशिष्ट : 'क'

बौद्ध-देश की अर्थ-व्यवस्था

मानव-जीवन का आर्थिक पक्ष भी होता है । सभी मनुष्यों को भौतिक आवश्यकताएँ सताती है । उन आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो—जीवन के आर्थिक पक्ष—पर विचार करना अथवा ध्यान देना न गलत है, न अनुचित ।

यदि हम जीवन-क्रम को बनाये रखना चाहते हों, तो हमें जीवन के आर्थिक पक्ष पर ध्यान देना ही होगा । इसलिए हम सभीको एक सीमा तक अर्थशास्त्रज्ञ, भौतिकवादी अथवा अच्छा गृहपति होना चाहिए । इससे निस्तार नहीं है। जो इससे भागते दिखायी पड़ते है, वे अपने अस्तित्व का बोझ दूसरों पर डालते है, डालना चाहते है ।

शासन भी आर्थिक प्रश्नों से सम्बद्ध अपने कर्तव्यो के निर्वाह से नहीं बच सकता। क्योंकि [मानव] जीवन के आर्थिक पक्ष का अर्थ है, सामाजिक जीवन का आर्थिक पक्ष । शासन का यह काम है कि वह समुदाय की सामान्य समस्याओं पर ध्यान दे । शासन की सभी गतिविधियो का एक पक्ष आर्थिक भी होता है ।

आर्थिक पक्ष की इस व्यापकता को देखते हुए न तो यह आश्चर्यजनक है, न असाधारण कि अर्थशास्त्र के नाम से सामान्यतया अभिहित एक शास्त्र, विचारों की एक सुव्यवस्थित पद्धति का उद्भव और विकास हो । किन्तु इस सम्बन्ध में आश्चर्यजनक और निश्चय ही असाधारण बात यह है कि अर्थशास्त्र नाम से अभिहित एक ही शास्त्र हो, विचारों की एक ही पद्धति हो । जब जीवन के उद्देश्य और जीवन के अभिप्राय के सम्बन्ध में लोगों के विचारों में विविधता है और भिन्न-भिन्न लोग उसका भिन्न-भिन्न अभिप्राय समझते हैं, तो अनिवार्यत: जीवन के पक्ष-विशेष पर इसका प्रभाव पड़ेगा । सम्पूर्ण (समग्र) अपने किसी अंश या पक्ष से निश्चय ही बड़ा है ।

आइये, अब हम सीधे-सादे शब्दों में स्पष्ट बात कह डालें ! आज जिसे अर्थ के शास्त्र (विज्ञान) की संज्ञा दी गयी है, उसका आधार जीवन का केवल एक ही पक्ष है । वह एक ही दृष्टिकोण को लेकर चला है; और वह दृष्टिकोण है भौतिकवाद का । अर्थशास्त्र की प्रत्येक कल्पना का मूल यही दृष्टिकोण है । जहाँ अर्थशास्त्र यह मानता भी है कि मनुष्य केवल रोटी खाकर नहीं जी सकता, वहाँ भी वह मनुष्य की उन सम्पूर्ण गतिविधियों को पैसे में आँककर 'अपव्यय' मानता है, जो उसकी भौतिक आवश्यकताओं

की पूर्ति में विफल सिद्ध होती है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य की गतिविधियाँ उत्पादक या अनुत्पादक हो सकती हैं। उत्पादक गतिविधि वह है, जो किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्षत. अथवा परोक्षतः भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे। ऐसा नही है कि अर्थशास्त्र 'कल्याण' पर ध्यान देने में विफल रहा हो। किन्तु जहाँ कल्याण की भी बात आयी है, वहाँ उसकी जड गहराई के साथ भौतिकवाद मे चली गयी है। यह अवश्य है कि उसमें थोड़ी-सी और चातुरी का समावेश हो गया है।

अर्थशास्त्र का यह एकपक्षात्मक रूप आश्चर्यजनक और निश्चय ही असाधारण है। फिर भी यह समझ के परे नही है। इसके दो कारण हैं पहला यह कि, जैसा मै कह चुका हूँ, एक सीमा तक सभी लोगों का, यदि वे उचित रूप से जीवन-निर्वाह करना चाहते हो, भौतिक, आर्थिक बातों से सम्बन्ध होता ही है। उद्देश्य और अभिप्राय की बात छोड़ दीजिये, तो एक सीमा तक अर्थशास्त्र का जीवन से वैसा सम्बन्ध अवश्य है, जैसा मै ऊपर कह चुका हूँ। दूसरा कारण सर्वथा भिन्न है। शास्त्र के रूप में अर्थशास्त्र का विकास पश्चिम में उस समय हुआ, जब कि पाश्चात्य भौतिकवाद संसार पर छा गया था। भौतिकवाद के विरोधी अब तक इतने अशक्त रहे हैं कि वे अपनी दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सके। और उनकी नैरंतरिक अशक्तता का यह बड़ा भारी पहलू है कि उन्होंने बिना कुछ सोचे-समझे बड़ी सरलता से पाश्चात्य अर्थशास्त्र का यह मिथ्या दावा स्वीकार कर लिया कि आर्थिक विचारों की वही एक ऐसी पद्धति है, जिसके आगे और कोई पद्धति नही है, जो वस्तुनिष्ठ है और जो सार्वजनीन तथा सार्वकालिक है। चूंकि अर्थशास्त्र, एक सीमा तक (एक अंश तक), यथार्थतः व्यापक मान्यता का दावा कर सकता है, इसलिए मान यह लिया गया है कि इसकी यह विश्व-व्यापी मान्यता समग्रात्मक है। एक सीमा तक से मेरा तात्पर्य क्या है? भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति भौतिकवाद का सारतत्त्व नहीं है। इसका मात्र तत्त्व यही है कि यह किसी प्रकार की सीमा या माप का बन्धन नहीं मानता। भौतिकवादियों के विकासविषयक विचार का स्पष्ट अर्थ है 'निस्सीम विकास'। बर्मासम्बन्धी एक सरकारी प्रतिवेदन के ये अंश जरा देखिये :

" [कच्चे] माल, विधि और उत्पादन में सुधार की संभावनाओं की कोई ज्ञात सीमा नहीं है। विधि (ढंग) में सुधार का क्रम साल-का-साल चलता रहता है।····परिणामतः बराबर ही लोगों का जीवन-स्तर समुन्नत होता जाता है। प्रत्येक पीढ़ी पूर्वापेक्षया सुखी है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात की आशा करता है कि उसकी सन्तान उसकी अपेक्षा अधिक सुखी रहेगी और उसके आगे की पीढ़ी और भी अधिक सुखपूर्ण जीवन बिता सकेगी। बर्मा में भी यह स्थिति निश्चय ही आयेगी। बर्मा को भी उन्नति-

शील राष्ट्र बनना है, जिसमें १९६० तक बर्मा के निवासी अपेक्षाकृत अधिक सुखी ही न रहें, वरन् उनकी स्थिति निरन्तर [निस्सीम रूप से] सुधरती जाय।"

यह विकास एक सीमा तक नहीं हुआ; यह तो निस्सीम हुआ। क्या यह बात बुद्ध, ईसा अथवा अन्य महात्माओं के उपदेशों से मेल खाती है? निश्चय ही नहीं; इसकी संगति तो भौतिकवाद के नग्न और विकृततम रूप से बैठती है।

आज सारे संसार में जो अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है, चाहे वह कम्युनिस्ट देश हों या गैर-कम्युनिस्ट, वह किसी प्रकार की सीमा का बन्धन नही मानता। इसलिए यह अर्थशास्त्र जड़वाद (भौतिकवाद) का है, और किसी चीज का नहीं। इसमें विशुद्ध रूप से जीवन के भौतिकवादी दृष्टिकोण का भाव अन्तर्निहित है; यह उससे अलग नही किया जा सकता।

तो, आखिर कब हम उस विचारधारा का अवलम्बन करेंगे, जिसे बौद्ध अर्थशास्त्र बौद्ध आर्थिक विचार-पद्धति कह सकते है? कब लोग कम-से-कम यह अनुभव करेंगे और समझेंगे कि यह जड़वादी (भौतिकवादी) अर्थ-शास्त्र व्यापक रूप से मान्य नही है और इसके सिद्धान्तों पर आधारित जीवन-पद्धति बौद्ध जीवन-पद्धति के साथ बेमेल ही नहीं होगी, वरन् उसके विरुद्ध भी पड़ेगी? कब अर्थशास्त्र के हमारे अध्यापक कम-से-कम इस हद तक विषयनिष्ठ होंगे कि वे अपने छात्रों से यह कह सकें कि आज जिस अर्थशास्त्र की शिक्षा दी जाती है, वह भौतिकवाद का नग्नतम रूप है, जो अन्य किसी वस्तु के लिए गुंजाइश नहीं रहने देता? कब उन्हें इस बात का परिज्ञान होगा और वे स्वीकार करेंगे कि आर्थिक विचार की और पद्धतियाँ भी सम्भव हैं तथा अविकसित रूप में वे आज भी विद्यमान है?

यहाँ मै केवल एक पद्धति की चर्चा कर सकता हूँ, जिसका प्रतिपादन इस युग के महत्तम व्यक्ति महात्मा गाधी ने किया है। क्या हमारे अर्थ-शास्त्र के अध्यापक और अर्थशास्त्रज्ञ अर्थशास्त्रवेत्ता के रूप में गाधीजी से परिचित हैं? फिर भी उन्होंने आर्थिक प्रश्नों पर इतना अधिक कहा है। उन्होंने एक ऐसी आर्थिक प्रणाली का आधार प्रस्तुत किया है, जो हिन्दू-समाज के अनुकूल तो है ही, मै समझता हूँ कि बौद्ध-समाज के भी अनुकूल है। उनके आर्थिक विवेचन का आधार स्वदेशी और खद्दर है। स्वदेशी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है:

अपने गाँव में आपको गाँव के ही नापित का समर्थन करना होगा। मद्रास से आये कुशल नापित को भी आपको त्यागना ही होगा। अगर आपके लिए जरूरी ही हो, तो आपको अपने गाँववाले नापित को मद्रासी नापित के सदृश कुशल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि आप चाहें,

तो उसको मद्रास भेज सकते है, जिसमें वह अपने धन्धे में और कुशलता प्राप्त कर सके । जब तक आप ऐसा नही कर पाते, तब तक दूसरे नापित के पास आपका जाना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता । यही स्वदेशी है । इसी प्रकार यदि हम देखे कि भारत मे कई ऐसी चीजों का उत्पादन नही होता, जो हमे चाहिए, तो हमे उनके उपभोग की बात सोचनी ही न चाहिए, भले हमें उनके बिना रह जाना पड़े और हमें इस तरह बहुत-सी चीजों से वंचित रह जाना पडे । .... लोग कहते है कि आर्थिक क्षेत्र (जीवन) में भारत स्वदेशी के मार्ग पर नही चल सकता । जो लोग यह बात कहते हैं, वे स्वदेशी को जीवन की एक प्रणाली मानकर नहीं चलते । उनके लिए यह देशभक्तिविषयक एक प्रयास है, जिसका त्याग आत्मत्याग की स्थिति उत्पन्न होने पर किया जा सकता है । किन्तु स्वदेशी की जो व्याख्या यहाँ की गयी है, वह एक प्रकार का धार्मिक सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण शारीरिक असुविधा पर ध्यान दिये बिना भी करना चाहिए ।.... भारत की व्यापक गरीबी का बहुत बड़ा कारण आर्थिक क्षेत्र से स्वदेशी की भावना का तिरोभाव भी है । यदि विदेशी वस्तुओं का आयात इस देश में न होता, तो यहाँ दूध-दही की नदियाँ आज बहती होतीं ।"

खद्दर का व्रत लेने का अर्थ यह है कि स्वयं सूत कातें और हाथ-कते सूत का ही कपड़ा पहने । गांधीजी लिखते है :

"आप पूछ सकते है : 'हम हाथ क्यों लगायें ?' आप कह सकते है : 'मेहनत का काम तो उन्हींको करना चाहिए, जो अशिक्षित है । हम तो केवल पढ़ने-लिखने का काम कर सकते है, चाहे वह साहित्य हो या राजनीति ।' हमें श्रम की प्रतिष्ठा स्वीकार करनी होगी । यदि कोई नापित या मोची कालेज में पढ़ने लगे, तो भी उसे अपना व्यवसाय न छोड़ना चाहिए ।...."

महात्माजी के आश्रम में गये हुए एक पाश्चात्य लेखक ने लिखा है : "जब हमने उस स्थान के सम्पूर्ण वातावरण और निश्चित आदर्शो—अपने काम के प्रति लोगों की स्वाभाविक रुचि और उत्साह, सुखी, सन्तुष्ट परिवार, बच्चों को प्राप्त शिक्षण, 'कल' की चिन्ता का अभाव—पर विचार किया, तो हमें इस बात से बड़ा क्लेश हुआ कि हमें इतनी जल्दी यहाँ से चले जाना होगा । अपने व्यस्त जीवन में हमने इसके पूर्व इन शब्दों की—श्रम ही भगवान् की पूजा है—यथार्थता का कभी अनुभव नहीं किया था ।"

यहाँ यह तर्क उपस्थित करना मेरा उद्देश्य नहीं है कि स्वदेशी और खद्दर ही ऐसी विचार-पद्धति के, जिसे हम बौद्ध आर्थिक विचार-पद्धति कह सकें, उचित और एकमात्र संभव आधार है । लेकिन क्या आप यह नहीं अनुभव कर रहे है कि यह भी आर्थिक सिद्धान्त है, जो बहुत माने में जड़वादी

(भौतिकवादी) अर्थनीति के सर्वथा विपरीत है ? क्या आप श्रमविषयक इन दोनो मान्यताओं—"श्रम ही भगवान् की पूजा है" और "श्रम लागत की एक मद है, एक अनुपयोगिता है"—का अन्तर देख रहे हैं ? आज की स्थिति में जब कि भौतिकवाद के विरोधी अब भी बहुत अशक्त किन्तु विश्वस्त है, तो मेरा आग्रह विद्वानों, अर्थनीति के अध्येताओ और साथ ही राजनायकों से यह है कि वे महात्माजी की अर्थनीतिविषयक मान्यताओं पर उसी भाँति विचार करे, जिस भाँति उन्होने भौतिकवादी अर्थनीति पर विचार किया है ।

कुछ ही दिनों की बात है कि 'दि बर्मन' के अग्रलेख में मैंने पढा था : हमारी समुद्री सेवाओं और वैमानिक सेवाओ का संचालन आज भी यूरोपीयों के हाथ में है । 'पीदाता' का कप्तान अंग्रेज ही है । जब तक कि बर्मा-निवासी दक्ष न हो जायँ, विशेषज्ञ भी कुछ समय तक विदेशी ही बने रहेंगे । आज ही नहीं, आगे भी बहुत दिनों तक सरकार का आर्थिक परामर्शदाता विदेशी ही रहेगा ।

निश्चय ही समुद्री परामर्शदाता, विमान-चालक और कप्तान 'विशिष्टता' के कार्य कर रहे है, जिन पर उनकी जीवन-पद्धति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किन्तु क्या आर्थिक परामर्शदाता के बारे में भी यह ठीक है ? हो सकता है यह हो, हो सकता है न हो। यह सलाह देना मेरा काम नहीं है कि आर्थिक क्षेत्र में विदेशी परामर्शदाता नियुक्त करना बर्मा के लिए गलत काम है। आर्थिक क्षेत्र में भी कुछ ऐसी विशेष बातें है, जिनका बर्मा में अभी अभाव है और विदेशी उसकी पूर्ति कर सकते हैं । किन्तु एक क्षण के लिए भी यह कल्पना न करें कि अर्थव्यवस्था भी एक प्रकार का 'विशिष्टता' का कार्य है । अर्थ-व्यवस्था का सीधा-सा मतलब यह है कि अर्थशास्त्र में बताये गये सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए जीवन की पद्धति का विकास किया जाय । अर्थशास्त्र का शास्त्रीय पक्ष निराधार नहीं है । इसका आधार जीवन के उद्देश्य और अभिप्राय को स्पष्ट करनेवाली विचारधारा है; अर्थशास्त्रवेत्ता इसे जाने या न जानें और जैसा कि मै कह चुका हूँ, आर्थिक विचारों की एकमात्र विकसित प्रणाली वही है, जो आज सर्वत्र छायी हुई है और जो बहुत ही स्पष्ट रूप से जीवन के भौतिकवादी पक्ष पर आधारित है ।

आइये, एकआध उदाहरणों से इसे स्पष्ट कर लें । आप किसी आर्थिक विशेषज्ञ से माल के भाड़े—रेलों, नौकाओं और स्टीमरों द्वारा लिये जाने-वाले महसूल—की दरों के बारे में राय लें, तो वह यही कहेगा कि ये दरें प्रति टन/मील घटती जानी चाहिए, जिसमें दूरी जितनी ही अधिक हो, दर उतनी ही कम हो । वह कहेगा कि यही सबसे अच्छा ढंग है, क्योंकि इससे दूर माल भेजने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, बड़े पैमाने पर और अच्छा उत्पादन

होता है तथा इससे 'साधनो का अधिकतम उपयोग' होता है । इस सिलसिले में वह आपके समक्ष अमेरिका, ब्रिटेन और जर्मनी के उदाहरण उपस्थित करेगा । ये सभी उन्नत देश है, जो कि 'उत्तरोत्तर घटती के नियम' के अनुसार चलते है । आप देख रहे होंगे, इस प्रकार का परामर्श देकर उसने जीवन की एक विशेष पद्धति—भौतिकवादी पद्धति—की सिफारिश की है। किन्तु गांधीवादी विचारधारा मे पगा अर्थशास्त्रवेत्ता इससे भिन्न सलाह देगा । वह कह सकता है कि "स्थानीय, अल्प दूरी के माल-परिवहन को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए और अधिक दूरी के माल-परिवहन को निरुत्साहित करना चाहिए, क्योंकि इससे पौरीकरण की प्रवृत्ति बढती है, मानव को लाँघकर भी विशेषज्ञता का भाव उत्पन्न होता है, आधारहीन सर्वहारा-वर्ग की सृष्टि होती है; अर्थात् संक्षेप में यह अवांछनीय और अमितव्ययी जीवन-पद्धति है ।" क्या आपने देखा कि अर्थ-व्यवस्था का अपना कोई आधार नहीं है ?

दूसरा उदाहरण लीजिये । यदि आप किसी आर्थिक विशेषज्ञ से पूछें कि विदेशी विनिमय की कठिनाई से देश को बचाने के लिए क्या करना चाहिए, तो एक विशेषज्ञ कहेगा कि निर्यात इस हद तक बढ़ा दिया जाय कि 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन' से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके । किन्तु दूसरा विशेषज्ञ कहेगा कि नही, आयात पर इस ढंग का प्रतिबन्ध लग जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय हाटों में अकल्पित उथल-पुथल की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर देश संकट में न पड़ जाय । तो ये अपनी-अपनी सलाहों के पक्ष में भले ही तर्क उपस्थित करें, पर क्या आप यह नही देख रहे है कि वे अर्थ-व्यवस्था नही, जीवन की एक पद्धति के बारे में तर्क कर रहे हैं । इस प्रकार के बहुतेरे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऐसी स्थिति में वह दिन भला कब आयेगा, जब कि कोई आदमी इस प्रश्न पर विचार कर ऐसी पद्धति का विकास करेगा, जिसे बौद्ध अर्थ-व्यवस्था कहा जा सके। इसकी बड़ी भारी जरूरत है। मैंने जो कुछ कहा है, उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि बर्मा के आर्थिक विकास के लिए न तो कुछ किया जा सकता है, न किया जाना चाहिए; और यह कि सभी विकास-कार्य निश्चय ही बौद्ध जीवन-पद्धति के लिए विनाशकारी सिद्ध होंगे । मेरा उद्देश्य विकास के ढंग और उसकी दिशा की ओर संकेत करना है । यदि आप जडवादी बनना चाहते हों, तो पश्चिम के मार्ग पर चलिये; यदि बौद्ध बने रहना चाहते हों, तो अपने लिए किसी 'मध्यम मार्ग' का अनुसन्धान कीजिये ।

इस मध्यम मार्ग पर पहुँचने का मैं आपको एक सुगम उपाय बताऊँ: आप सीमाएँ बाँधना आरम्भ कर दीजिये। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक पदार्थ व्यक्ति के लिए, परिवार के लिए, राष्ट्र के लिए वास्तविक महत्त्व के

है, किन्तु एक सीमा तक ही । आर्थिक अवस्था के तीन रूप हैं : दरिद्रता, पर्याप्तता और विपुलता [जन्य अजीर्णता] । इनमें—व्यक्ति हो, परिवार हो, राष्ट्र हो—दो तो बहुत बुरे है, किन्तु पर्याप्तता ठीक है । आर्थिक विकास 'पर्याप्तता' के स्तर तक ही ठीक है । उसके आगे यह दोषपूर्ण है, विनाशकारी है, अमितव्ययी है। जिस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कीक ल्पना मेरे मन में है, उसकी दृष्टि से इन विभेदों पर ध्यान देना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान है, साधनो के 'नवीकरणीय' और 'अनवीकरणीय' भेद का । नवीकरणीय साधनों, यथा वन्य कार्षिकादि पदार्थ पर खड़ी की गयी सभ्यता अनवीकरणीय साधनों, यथा तेल-कोयला-लोहा (धातु) पर खड़ी सभ्यता की अपेक्षा कही श्रेष्ठ है । और वह इसलिए कि पहली टिकाऊ है, दूसरी क्षणभंगुर । पहली प्रकृति के साथ सहयोग करती है, दूसरी उसको लूटती है । पहली में जीवन के चिह्न हैं, दूसरी मे मृत्यु के । यह बात असन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि तेल-कोयला-लोहा-अर्थ-व्यवस्था मानव-जाति के लम्बे इतिहास में एक असाधारण क्षणिक घटना के रूप में ही गिनी जायगी । इसका कारण यह है कि उसका आधार प्रकृति के अनवीकरणीय साधन हैं । साथ ही शुद्ध रूप से भौतिकवादी होने के कारण यह किसी प्रकार की सीमा का बंधन नही मानता । अणुशक्ति के विकास का जो दानवी प्रयास चल रहा है, उससे सिद्ध है कि आधुनिक सभ्यता के समर्थक इस स्थिति से अवगत हैं तथा अपने ढंग से प्रकृति से लड़-झगड़कर इस स्थिति से निकल भागने के प्रयास मे लगे हुए हैं । कोयले और तेल का स्थान लेने की दृष्टि से अणुशक्ति का व्यापक पैमाने पर 'शान्ति के लिए' विकास ऐसी भयानक स्थिति का परिचायक है, जो अणुबम और उदजन बम से भी अधिक त्रासदायी है । यहाँ अविवेकी मानव ऐसे प्रदेश में प्रवेश कर रहा है, जहाँ खतरे की सूचक पट्टी लगी हुई है और जिस पर लिखा है : दूर रहो ।

जिस अर्थ-व्यवस्था की कल्पना मेरे मन में है, वह पदार्थों के मूल्य को अधिक महत्त्व देगी, उनकी कीमतों को कम । जैसे उसमें लकड़ी को महत्त्व दिया जाय, लोहे को नहीं । आधुनिक विचारो का मनुष्य इससे चौंकेगा ।

मेरी अर्थ-व्यवस्था यह मानेगी कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो सादे, सन्तुष्ट जीवन के प्रेरक हैं और कुछ ऐसे है, जो जटिल, दमनात्मक और इसीलिए असन्तुष्ट जीवन के प्रेरक हैं । इससे मनुष्य में ऐसे गुणों के भाव उत्पन्न होंगे, जो आज की यन्त्रवादी सभ्यता के मनुष्य की कल्पना के बाहर की चीज है ।

संसार की सभी वस्तुएँ विनाशी हैं; किन्तु कुछ अत्यल्पकालिक हैं, कुछ थोड़े दिन चलती हैं । विचार की जो भी पद्धति किसी प्रकार की सीमा का बन्धन नहीं मानती, वह अत्यल्पकालिक ही है । भौतिकवाद और

उससे उत्पन्न आधुनिक अर्थशास्त्र पर सबसे बडा आरोप यह है कि ये सीमा का बन्धन नही स्वीकार करते और यदि कोई सीमा सामने आये भी, तो उसको समझ नहीं पाते। स्थिति की सबसे बड़ी भयानकता यही है।

आत्मसंयम, स्वयं आरोपित सीमा-बन्धन और अपनी सीमा का परिज्ञान जीवनदायी, और जीवनरक्षक गुण है। नयी अर्थ-व्यवस्था, जिसकी आज हमे आवश्यकता है, इन मान्यताओं को आधार मानकर चलेगी : आर्थिक विकास एक सीमा तक ही लाभदायक है; जीवन मे जटिलता का संचार एक सीमा तक ही संभव है, दक्षता और उत्पादकता के लिए प्रयास एक सीमा तक ही ठीक है; पुनरप्राप्य साधनों का उपयोग एक सीमा तक करना ही बुद्धिमानी है; मानव की परिपूर्णता के भाव के साथ विशेषज्ञता का मेल एक सीमा तक ही बैठता है; सामान्य बुद्धि के स्थान पर वैज्ञानिक बुद्धि (विधि) का उपयोग एक सीमा तक ही सह्य है; आदि, आदि। यह ध्यान में रखने की चीज है कि सीमावाली बात बहुत चढ़कर नही, गिरकर ही है और शायद इतने नीचे के स्तर तक का खयाल भी बहुत से लोग नहीं कर सकते।

निश्चय ही नयी अर्थ-व्यवस्था यथार्थतः 'सीमाओं की अवस्था (स्थिति)' होगी, जिसका अर्थ है : स्वाधीनता की संविधि।

'सब प्राणी सुखी हों!'

रंगून,
फरवरी १९५५

—ई० एफ० शूमाखेर

◆◆

परिशिष्ट : 'ख'

ईसाई-धर्म ने लोगों में नये सिरे से धार्मिक चेतना की सृष्टि तो की, किन्तु उसने परिवर्तित सामाजिक स्थिति की उपेक्षा कर दी और उसके बिना नैतिकता और धार्मिकता का समाज पर, अधिकांश लोगों पर कोई प्रभाव नहीं होता। प्रबोध-काल में विवेक और स्वतंत्र निर्णय को सबसे बड़ा आदर्श माना गया। इसने राजनीतिक समानता पर बडा जोर दिया, किन्तु इस बात पर ध्यान नही दिया कि राजनीतिक समानता से तब तक भ्रातृत्व का भाव नहीं आ सकता, जब तक कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचा भी नही बदलता या सुधरता। समाजवाद और विशेषकर मार्क्सवाद ने सामाजिक-आर्थिक ढाँचों में परिवर्तन पर तो अत्यधिक जोर दिया, किन्तु वे यह भूल गये कि जब तक मनुष्य की प्रकृति में सुधार नही होता, तब तक आर्थिक सुधारों से ही अच्छा समाज नहीं बन सकता। पिछले दो हजार वर्षो के बीच सुधार के जो भी आन्दोलन चले, उन सबने जीवन का एक ही पक्ष लिया, दूसरों की उपेक्षा कर दी। इसके लिए उनकी योजनाएँ क्रान्तिकारी होते हुए भी आन्दोलन को सफलता न प्रदान कर सकी। बाइबिल के उपदेशों से कैथोलिक चर्च की स्थापना हुई। अठारहवी शताब्दी के विवेकवादियों की शिक्षाओं से राबसपीयर और नेपोलियन का जन्म हुआ। मार्क्स के सिद्धान्त स्तालिन के जनक बने। लेकिन परिणाम इससे कुछ भिन्न शायद होता भी नहीं। मनुष्य एक इकाई है। उसका सोचना, उसका विचारना, उसका अनुभव करना और उसका जीवन-व्यवहार पृथक्-पृथक् नहीं किये जा सकते। भावना स्वतंत्र न हो तो विचारों में स्वतंत्रता कहाँ से आ सकती है? और भावना की यह स्वतंत्रता तब तक संभव नहीं, जब तक कि मनुष्य जीवन-व्यवहारों में, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में स्वतन्त्रता की स्थिति का अनुभव न करे। एक क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ़ने का प्रयास तथा अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा का एक वही परिणाम हो सकता है, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। अर्थात् इन क्रान्तिकारी माँगों से कुछ लोग तो लाभ उठा लेते है, किन्तु बाकी के लिए वह सिद्धान्त और शास्त्र ही बनकर रह जाता है। यह निर्विवाद है कि जीवन को अखण्ड मानकर सभी क्षेत्रों में एक कदम भी दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ाना मानव-जाति के विकास के लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर और प्रभावकारी है; बजाय इसके कि एक ही अलग क्षेत्र में सैकड़ों कदम एक साथ उठाने की बात कही जाय तथा उठाकर चाहे थोड़े समय के लिए रख भी लिये जायँ। एक ही क्षेत्र में बढ़ने के हजारों वर्षों के विफल प्रयासों से अब तो मानव-जाति को शिक्षा लेनी ही चाहिए।

प्रकाशक : मंत्री, अ. भा. सर्व-सेवा-संघ, राजघाट, काशी
मुद्रक : पं० पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
दिसम्बर, १९५९

11